दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० ११

एकाकी जीवन

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

रे जीव!

तू अकेले जीना सीख। दूसरों से तुझे क्या लेना है? जीवन को आनंदित बनाने की संपूर्ण सामग्री तुझमें विद्यमान है। एकाकी जीवन में अलौकिक सुख है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने निजात्मवैभव से एकत्वस्वरूप बतलाने के लिये समयसार की रचना की है; ऐसे निजवैभव सम्पन्न एकत्वस्वरूप को जानकर एकाकी जीवन जीना सीख... उससे तुझे उत्तम आत्मसुख की प्राप्ति होगी।

—एकाकी जीवन सुखी जीवन है।

—एकाकी जीवन सच्चा जीवन है।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

मार्च १९६८] वार्षिक मूल्य ३) (२७५) एक अंक २५ पैसा [फाल्गुन सं० २४९४

विचार

प्रश्न—आत्मा का विचार किसप्रकार किया जाये? (ऐसा प्रश्न अनेक जिज्ञासुओं को उठता है।)

उत्तर—संतों के निकट आत्मा का स्वरूप जिसप्रकार सुना और शास्त्रों में पढ़ा हो, उसे लक्षगत करके उस स्वरूप की अनेक प्रकार से परम महिमा लाकर 'ऐसा मैं ही हूँ'—इसप्रकार निर्भेद भाव से अपने स्वरूप का चिंतवन करना चाहिये। विचार तो हजारों प्रकार के होते हैं, परंतु चाहे जिसप्रकार के विचार में मुमुक्षु की वृत्ति स्वभावोन्मुख ही होती है। चाहे जिस पक्ष के विचार द्वारा भी पर से भिन्नता और अपने ज्ञानादि परम स्वभाव में एकता—ऐसे स्वरूप का निर्णय कर-करके, उसकी परम प्रीति बढ़ा-बढ़ाकर परिणाम को उस स्वभाव की ओर ले जाने से स्वानुभव होता है।

इसप्रकार मुमुक्षु के विचार स्वानुभव की ओर ही झुके रहते हैं। इसलिये 'कैसे विचार करना चाहिये?'—तो कहते हैं कि जिनसे स्वानुभव की ओर झुकाव हो, वही विचार करना चाहिये। सत् विचार का फल स्वानुभव है। ('विचार' में अकेला राग -विकल्प नहीं है, परंतु उस समय वस्तु को लक्ष में लेनेवाला ज्ञान भी कार्य करता है, और मुमुक्षु को उस ज्ञान की ही प्रधानता है, विकल्प की नहीं।)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१)श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

मार्च : १९६८ ☆ वर्ष २३वाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९४ ☆ अंक : ११

मुमुक्षु का मार्ग

मुमुक्षु ने स्वानुभव द्वारा अपने अंतर में मोक्षमार्ग को देखा है.... जब सिद्ध भगवान कभी विकार को प्राप्त नहीं होते, तो मैं भी उनके जैसा ही आत्मा हूँ; इसलिये विकार को प्राप्त होऊँ, ऐसा मेरा भी स्वभाव नहीं है.... सिद्ध भगवंतों ने विकार के कारणरूप ऐसे समस्त शुभ-अशुभ कृत्यों का नाश किया है; तथा समस्त शुभाशुभ भावों को छोड़कर वे भगवान परम शुद्धदशा को प्राप्त हुए हैं; मैं भी उन्हीं की भाँति अपने परम स्वभाव के अवलम्बन से समस्त शुभ-अशुभ को छोड़कर उसी मुमुक्षु-पंथ पर चलता हूँ, यही एक मुमुक्षुओं का मार्ग है—अन्य मार्ग नहीं है। मोक्ष को प्राप्त ऐसे सिद्ध भगवंतों ने जो किया है, वही मुमुक्षु का मार्ग है... मुमुक्षु भी सिद्धों की जाति का है, इसलिये जो सिद्धों ने किया, वही उसका कर्तव्य है।

शुभाशुभ से पार अकेला ज्ञान का अनुभव करने से मोक्षमार्ग होता है। हे जीव! तू ज्ञान का समुद्र सुख से भरा है; उसे ज्ञान के द्वारा जान तो तुझे मोक्षमार्ग एवं आनंद का अनुभव होगा—ऐसा अनुभव करना, वही मुमुक्षु का मार्ग है। सिद्ध भगवंत इस पंथ से सिद्ध हुए हैं और मुमुक्षु कहता है कि मैं भी इसी मार्ग पर चलता हूँ, देह की क्रिया में या राग में कहीं भी मुमुक्षु का मार्ग नहीं है; मुमुक्षु का मार्ग स्वाधीन है; वह मार्ग अपने अंतर में पुण्य-पापरहित जो आत्म-अनुभूति, उसमें समा जाता है। स्वानुभव से मुमुक्षु ने यह मार्ग देखा है तथा इस देखे हुए, जाने हुए और अनुभव किये हुए मार्ग से वह मोक्ष में जाता है। मैं भी उसी मार्ग पर चलता हूँ।●●

सर्वज्ञ का ज्ञान और साधक का ज्ञान दोनों की एक जाति

[पूज्य स्वामीजी के अंतर्मंथन से निकले हुए न्याय]

सर्वज्ञ परमात्मा केवलज्ञानरूप परिणमित होकर लोकालोक को जानते हैं।

साधक धर्मातमा सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ रागादि को जानता है।

अब उनकी तुलना—

ज्ञानरूप से दोनों समान हैं; अर्थात्—

जिसप्रकार केवलज्ञान लोकालोक का ज्ञाता है, कर्ता नहीं है; उसीप्रकार साधक सम्यग्ज्ञानी का ज्ञान भी राग का और निमित्तों का ज्ञाता है, परंतु कर्ता नहीं है।

जिसप्रकार केवलज्ञान में प्रथम ज्ञान और पश्चात् लोकालोक—ऐसा नहीं है; अथवा प्रथम लोकालोक और पश्चात् ज्ञान-ऐसा भी नहीं है, दोनों एकसाथ वर्तते हैं और तथापि एक-दूसरे से निरपेक्षरूप वर्तते हैं; उसीप्रकार साधक के सम्यग्ज्ञान में प्रथम ज्ञान और पश्चात् विकल्परूप व्यवहार—ऐसा नहीं है; अथवा प्रथम रागरूप व्यवहार और पश्चात् ज्ञान—ऐसा भी नहीं है, दोनों एकसाथ होने पर भी, ज्ञान का परिणमन राग से निरपेक्ष वर्तता है।

अहो, केवली का ज्ञान भी राग से निरपेक्ष, और साधक का स्वसन्मुख ज्ञान भी पर से निरपेक्ष; ज्ञान पूर्ण और अपूर्ण—ऐसे भेद होने पर भी, ज्ञातापने के भाव की अपेक्षा दोनों समान ही है। सर्वज्ञ के ज्ञान में जिसप्रकार रागादि का कर्तृत्व नहीं है, उसीप्रकार साधक के ज्ञान में (वह ज्ञान अल्प होने पर भी, उसमें) राग का कर्तृत्व नहीं है। अंतर मात्र इतना है कि केवली को राग का परिणमन ही नहीं है और साधक को राग का परिणमन है, तथापि ज्ञान में उसका कर्तृत्व नहीं है; इसलिये ज्ञान की जाति तो सर्वज्ञ को और साधक को एक जैसी ही हुई। चतुर्थ गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि को ऐसा ज्ञान का प्रारम्भ हो चुका है।

निचली दशा में ज्ञान के साथ किंचित् विषमभाव वर्तता है, वहाँ भी ज्ञान उससे भिन्न रहकर ही उसे जानता है।

स्वरूप में स्थिर होने पर समभाव हुआ, वहाँ उस समभाव में तन्मय रहकर ज्ञान उसे जानता है।

रागरूप विषमभाव था, तब उसे जाना अवश्य, किंतु उसमें ज्ञान तन्मय नहीं हुआ; इसलिये जिसप्रकार केवली का ज्ञान राग से पृथक् है; उसीप्रकार साधक का ज्ञान भी राग से भिन्न ही रहता है। अहो, ज्ञान का यह एक न्याय समझे तो निश्चय-व्यवहार के सब प्रश्न हल हो जायें।

साधकपने के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान तक ज्ञान का परिणमन राग से पृथक् ही है। निचली दशा में भले ही दोनों एकसाथ हों, परंतु जाति तो दोनों की भिन्न है। यह चैतन्यजाति का प्रवाह राग से पृथक् ही है। राग के प्रवाह में चैतन्य का प्रवाह एकाकार नहीं हो जाता। ज्ञान की धारा शांतरसमय है और राग की धारा आकुलतारूप है। शांतरसमय ज्ञानधारा में राग नहीं है; ज्ञान उसे जानता अवश्य है परंतु वह अपने चैतन्य-प्रवाह से च्युत नहीं होता। पहले से वह ज्ञान केवलज्ञान की जाति का था, इसलिये आगे बढ़कर केवलज्ञानरूप हो गया। ●●

अरे चैतन्य प्रभु! अपनी शक्ति की एक टंकार में तू केवलज्ञान प्राप्त कर ले—ऐसी तेरी शक्ति है, और तू अपने स्वरूप का अनुभव नहीं करता.. उसमें तुझे शरम नहीं आती? सर्वज्ञस्वभावी होने पर भी भव करते हुए तुझे शरम नहीं आती? स्वभाव को समझाने के उद्यम में तुझे श्रम लगता है और परभाव में श्रम का अनुभव नहीं होता, परंतु अरे भाई! स्वभाव की साधना में श्रम कैसा? उसमें श्रम नहीं लगना चाहिये.... उसमें तो परम उत्साह होना चाहिये... यह तो अनादिकालीन श्रम मिटाने का मार्ग है। मुमुक्षु को तो परभाव में श्रम लगता है और स्वभाव की साधना में परम उत्साह जागृत होता है।

आत्मा का बल

[परमात्मप्रकाश गाथा ७८ के प्रवचन से]

कर्म का जोर है—ऐसा कहकर अनेक जीव अटक जाते हैं; संत उनसे कहते हैं कि—भाई! कर्म का जोर कहाँ से आया ?—तेरे विपरीत परिणाम में से; इसलिये वास्तव में तेरे परिणाम का ही जोर है—कर्म का नहीं; इसप्रकार परिणाम की स्वाधीनता जानकर स्वोन्मुख परिणाम से शुद्धात्मा को उपादेय करने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

शास्त्र में कर्म का जोर कहा हो, वह ऐसा सूचित करता है कि जीव के भाव में मिथ्या अभिप्राय का तीव्र सेवन है और वही उसकी शक्ति को रोकता है। शुद्धात्मतत्त्व को उपादेय करने का संतों का उपदेश है, इसलिये स्वपुरुषार्थ से स्वोन्मुख परिणाम द्वारा जिसने शुद्धात्मा को दृष्टि में और अनुभव में लिया, उसे निमित्तरूप से कर्मों का जोर नहीं रहता और विकारभाव से छूट जाता है; इसप्रकार शुद्धात्मा को उपादेय करना ही मोक्षमार्ग है।

जो परिणाम अंतर्मुख होकर अपने आत्मस्वभाव को जाने-प्रतीति में ले और अनुभव करे, उस परिणाम का ही सच्चा मूल्य है। इसके सिवा शुभराग का या बाह्य ज्ञातृत्व का मूल्य ज्ञानी की दृष्टि में नहीं है। जिससे मोक्षमार्ग न सधे तथा जिसमें आत्मा के आनंद का अनुभव न हो, उसका क्या मूल्य ? वास्तव में सम्यग्दर्शनपरिणाम ही मूल्यवान हैं कि जिनसे मोक्षमार्ग सधता है और जिसमें आत्मा के आनंद का अनुभव है। इसके सिवा बाह्य संयोग की, वाणी के विलास की, विकल्पों की या अन्य जानकारी ही महत्ता जिसे भासित होती है, उसे चैतन्यस्वभाव की महानता की खबर नहीं है। वह बाह्य महिमा में रुका रहता है परंतु परिणामों को अंतरोन्मुख करके आत्मा का अनुभव नहीं करता। स्वभाव की महत्ता आये बिना परिणाम उसमें अंतर्मुख कहाँ से होंगे ? जिसे जिसकी सच्ची महत्ता भासित हो, उसके परिणाम उसी ओर झुकते हैं।

किसी को पूर्वभव की कोई साधारण बात याद आये, वहाँ तो सामान्य लोगों को बहुत आश्चर्य हो जाता है। परंतु भाई, चैतन्य के ज्ञान की कोई अगाध शक्ति है, असंख्य वर्षों की तो क्या, परंतु अनंत काल की जान ले—ऐसी शक्ति आत्मा में भरी है। आत्मा की चैतन्यजाति को

जाने, वह सच्चा विचक्षण है और उसकी सच्चा महत्ता है। परंतु यह अंतर की बात जीवों के लक्ष में नहीं आती।

आत्मा को भूलकर मिथ्यात्व के तीव्र सेवन से अज्ञानी तीव्र कर्मों का बंध करता है; जीव तो ज्ञानविचक्षण है अर्थात् विशिष्ट ज्ञानशक्ति का धारक है, परंतु स्वयं अपना स्वरूप भूलकर, शरीर सो मैं और राग सो मैं—इसप्रकार बलपूर्वक विपरीत अभिप्राय का सेवन करता है, जिससे उसे बलवान चिकने दृढ़ कर्मों का बंध होता है। देखो, जितना विपरीत अभिप्राय का जोर था, उतने ही बलवान कर्मों का बंध हुआ; इसलिये वास्तव में कर्मों का जोर नहीं आया परंतु जीव के विपरीत अभिप्राय का जोर आया। विपरीत अभिप्राय के जोर से बंधे हुए दृढ़-चिकने कर्मों को जीव सम्यक्त्वपरिणाम के बल से क्षणमात्र में तोड़ देता है। सम्यक्त्व के परिणाम से जीव दुष्टाष्ट कर्मों को क्षण में नष्ट कर देता है—यह बात तो प्रथम ही बतलायी है।

अज्ञानी को जो दृढ़-चिकाने-बलवान-वज्र समान कर्मों का बंध हुआ-वह काहे से हुआ? कि विपरीत-मिथ्या अभिप्राय के तीव्र सेवन से उन कर्मों का बंध हुआ है। तीव्र विरुद्धभाव के बिना तीव्र कर्मों का बंध नहीं होता। कर्म जीव के भाव अनुसार बँधते हैं। अहो, अनंत चैतन्यशक्ति का धारक यह विलक्षण आत्मा; उसने स्वयं अपनी विराधना से बाँधे हुए कर्मों ने उसका आच्छादन किया है; परंतु यदि अंतर्मुख होकर स्वयं शुद्धात्मा को उपादेय करे तो कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

कर्मों का जोर कब कहा? कि जीव ने विपरीतभाव का तीव्र सेवन किया, तब उससे जिन कर्मों का बंध हुआ, उनका जोर कहा, और कर्मों ने जीव को गिराया—ऐसा निमित्त से कहा। परंतु जीव के विपरीत परिणाम बिना कोई उसे गिरा नहीं सकता। शुद्ध-अभेद रत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग, उससे जीव स्वयं भ्रष्ट हुआ और विपरीत भावों का सेवन किया, तभी भावकर्मों को जोर मिला। कर्म में जोर आया कहाँ से?—कि जीव ने विपरीत भाव से मिथ्यात्वादि का सेवन किया, उसमें से कर्म में जोर है—ऐसा मानने लगा। इसलिये जीव के विपरीत भाव का जोर और कर्म दोनों को एक मानकर कहा कि - कर्मों ने जीव को निजशक्ति से च्युत किया और परिभ्रमण कराया। जीव कहीं अपने स्वभाव के आश्रय द्वारा परिभ्रमण नहीं करता, इसलिये उस स्वभाव को पृथक् रखकर, जो विपरीत भाव हैं, उन्हें कर्म में डाल दिया और कर्म का जोर कहा। परंतु कर्म के बलवान होने में भूल तो जीव की अपनी है। स्वयं अपने

स्वभाव का मूल्य न जानकर बाह्य की अल्प जानकारी में या शुभराग में अटककर उसी की महत्ता मानी, उस मिथ्या अभिप्राय के कारण कर्म में तीव्र रस आया, और वह केवलज्ञानादि को रोकने में निमित्त हुआ। परंतु यदि स्वयं अपने स्वभाव को उपादेय करके अपना बल प्रगट करे तो कर्म की ओर का जोर टूट जाता है और जीव के केवलज्ञानादि अनंत गुण प्रगट होते हैं।

कर्म का जोर कब कहा जायेगा? कि तूने अपने विपरीत भाव से उसे निमित्त बनाया तब; परंतु यदि तू स्वयं अपने स्वभाव को उपादेय करके अनुभव में ले और कर्म को भिन्न जान तो निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हो और अशुद्धता का तथा कर्म का संबंध टूट जाये।

—इसप्रकार शुद्धता और अशुद्धता दोनों में जीव का अपना स्वतंत्र अधिकार है। तूने परभाव को और कर्म को उपादेय माना, तब उस ओर तेरा बल झुका; इसलिये उन्हें बलवान कहा गया; तू अपने स्वभाव को उपादेय कर तो तेरा बल स्वभावोन्मुख हो और स्वभाव के पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग प्रगट हो तथा कर्म का और विकार का जोर टूट जाये।—इसप्रकार बंधमार्ग में या मोक्षमार्ग में आत्मा का ही जोर है। बंधमार्ग में जीव के विपरीत परिणाम का बल है और मोक्षमार्ग में जीव के सम्यग्दर्शनादि सीधे परिणामों का बल है।

अहा, चैतन्यतत्त्व की अचिंत्य शक्ति!! उसके अनुभव के निकट शास्त्रों के अभ्यास का भी कोई महत्त्व नहीं है। व्यवहार का ज्ञान या व्यवहार के शुभ आचरण से रहित केवल स्वाश्रय में ही चैतन्य का मार्ग है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को अंतर की अभेददृष्टि में और अनुभव में लेना ही मोक्षमार्ग हैं।

प्रथम कर्तव्य

अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासु को अंतर में वैराग्यभाव एवं कषाय की मन्दता तो होती ही है। जिसे त्रैकालिक अकषायतत्त्व ग्रहण का तीव्र प्रेम हो, कषाय की मंदता एवं वैराग्य हो, उसी को आत्मस्वरूप समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। भाई, अनंत काल में समझने का अवसर आया है; शरीर कब छूट जायेगा, इसका कोई भरोसा नहीं,.... ऐसे काल में यदि तीव्र जिज्ञासु बनकर तत्त्वविचार में सावधान होकर आत्मस्वरूप नहीं समझेगा तो कब समझेगा? यदि स्वभाव की परिणति प्रगट करके साथ न ले गया तो तूने इस जीवन में क्या किय?

जीवन धर्म के लिये है– धन के लिये नहीं

यह अवसर स्वभावधर्म का साधन करने के लिये है, धन की वृद्धि के लिये नहीं; इसलिये हे जीव! इष्ट ऐसा जो स्वभाव, उसे साधने का उद्यम कर... धन की वृद्धि के अर्थ इस जीवन को बरबाद न कर!

इष्ट उपदेश अर्थात् आत्मा के हित का उपदेश देते हुए श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अरे जीव! यह आत्मा के स्वभावधर्म को साधन का अवसर है; इसमें स्वभाव का साधन करने के बदले धन को बढ़ाने के लिये तू इस अवसर को गँवा दे तो तुझ जैसा मूर्ख कौन होगा? तू दिन-रात धन की वृद्धि के हेतु प्रयत्न करके पाप बाँधता है और स्वभावधर्म का साधन नहीं करता। आयु और पुण्य के घटते हुए भी धन की वृद्धि होने से तू मानता है कि मेरी वृद्धि हुई; परंतु भाई, इसमें तेरा कोई हित नहीं है; तेरा हित तो इसमें है कि तू अपने स्वभाव का साधन कर... आत्मा की मुक्ति का प्रयत्न कर। यह भव है, वह भव के अभाव के लिये है-ऐसा समझकर तू आत्मा के कल्याण का उद्यम कर, ऐसा हितकारी इष्ट उपदेश संतों ने दिया है।

अरे, धन का लोलुपी मनुष्य अपने जीवन की अपेक्षा धन को प्रिय मानता है। समय बीतने पर रुपयों का ब्याज बढ़ेगा, ऐसा वह मानता है, परन्तु आयु घटती जाती है, इसका उसे कोई विचार नहीं है। उसे धन जितना प्रिय होता है, उतना प्रिय जीवन नहीं होता, इसलिये वह धन के हेतु जीवन को नष्ट कर देता है। इष्ट ऐसे आत्मा को भूलकर उसने धन को इष्ट माना, इसलिये धन के हेतु जीवन बिताता है। परंतु जिसने ऐसा जाना है कि मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही इष्ट है, इसके सिवा अन्य कोई मुझे इष्ट नहीं है, वह जीव आत्मा की साधना में अपना जीवन बिताता है, सच्चा इष्ट तो वही है कि जिससे भव दुःख का अंत हो और मोक्षसुख मिले। ऐसे इष्ट को जो भूला, वही पर को इष्ट मानकर उसमें सुख मानता है और उसमें जीवन गँवाता है। धर्मी को तो आत्मा का स्वभाव ही सुखरूप एवं प्रिय लगा है; वह आत्मा को ही इष्ट मानकर उसकी साधना में जीवन बिताता है।

भाई, धन की वांछा में तू अपने आत्मा को पाप के कीचड़ से मलिन न कर। अरे! पैसा कमाकर फिर उसका उपयोग पूजा-दान प्रभावनादि में करूँगा—ऐसी वांछा से भी धन की लोलुपता न कर; अपनी वृत्ति को आत्महित में लगा, यही सबसे इष्ट है; लक्ष्मी प्राप्त करने की लोलुपता से तो तेरा आत्मा कीचड़ जैसे पापों से लिप्त होता है। वर्तमान में पाप करके फिर पुण्य करेंग - ऐसा माननेवाला तो मूर्ख है; शरीर पर कीचड़ लगाकर फिर स्नान करनेवाले की भाँति वह मूर्ख है। भाई, कीचड़ लगाकर फिर स्नान करे, इसकी अपेक्षा पहले से ही कीचड़ से दूर रह ना? भविष्य में दानादि करने के बहाने वर्तमान में अपने आत्मा को पापरूपी कीचड़ में क्यों लिप्त करता है? हाँ, तुझे सहज ही पुण्य से जो लक्ष्मी आदि की प्राप्ति हुई हो, उसे तू दान-पूजा-साधर्मीवात्सल्य आदि सत्कार्यों में लगा।

भाई, पापभाव तो किसी प्रकार इष्ट नहीं है; लक्ष्मी आदि प्राप्त करने की वृत्ति, वह पाप है, उसे तो छोड़ और राग को कम करके जिसमें आत्मा का हित हो, वह कर। धन को प्राप्त करने के भाव में दु:ख है और धन की रक्षा के भाव में भी दु:ख है तथा उसका उपयोग करने के भाव में तो मात्र अतृप्ति और दु:ख ही है। सर्वत्र दु:ख और आकुलता ही है, उसमें तेरा किंचित् हित नहीं है; तो उसे इष्ट कौन मानेगा? हित तो आत्मा की साधना में है... जिसके प्रारम्भ में भी शांति और जिसके फल में भी मोक्षसुख की अपूर्व शांति - ऐसा मोक्षसाधन ही आत्मा का इष्ट है; इसलिये उसी का तू उद्यम कर-ऐसा संतों का इष्ट उपदेश है।

('इष्टोपदेश' के प्रवचन से)

वीर के मार्ग पर

भाई, इस जीवन में मुझे अपना कल्याण करना ही है—ऐसी गहरी आत्मजिज्ञासापूर्वक चैतन्य की महिमा करते-करते तेरे निर्णय में ऐसा आये कि अहो! मैं ही स्वयं परिपूर्ण ज्ञान-आनंदस्वरूप हूँ; तो ऐसे निर्णय के जोर से अंतर्मुख होने पर प्रत्यक्ष स्वसंवेदन द्वारा आत्मानुभव होता है, वही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा परमात्मा के मार्ग पर पहुँचा और वीर के मार्ग पर आगे बढ़ा।

इष्ट और ध्येय

आत्मा का इष्ट क्या और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या ? वह यहाँ बतलाया है। अरे जीव! यह इष्ट की प्राप्ति का अवसर है। संत तुझे तेरे इष्ट की प्रापित की रीति बतलाते हैं। प्रथम तो इष्ट के स्वरूप का निर्णय कर। तेरा इष्ट और ध्येय कहीं बाहर नहीं है, तुझसे जग भी दूर नहीं है, तुझ ही में है। तेरा इष्ट रागरहित है और उसकी प्राप्ति का उपाय भी रागरहित ही है; क्योंकि साध्य और साधन दोनों एक जाति के हैं।

इष्ट का उपदेश अर्थात् जीव का इष्ट क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?—वह बतलाते हैं। जो जीव इष्ट का अर्थी अर्थात् सुख का अभिलाषी हो, आत्महित करना चाहता हो, उस जीव को स्वसंवेदन में प्रगट और सुखमय ऐसा निजात्मा ही ध्येयरूप है। लोकालोक को जानने की शक्तिवाला आत्मा अत्यंत सौख्यमय है, वह स्वसंवेदन में प्रगट होता है और वही धर्मी का ध्येय है।

यह आत्मा ही ऐसा दिव्य चिन्तामणि है कि जिसके चिन्तन से परमसुख और केवलज्ञानादि प्राप्त होते हैं। जहाँ ऐसा चिन्तामणि अपने में प्राप्त है, वहाँ अन्य पदार्थों से क्या प्रयोजन ? इसलिये अपना आत्मा ही इष्ट और ध्येय है। राग या संयोग इष्ट नहीं है, ध्येय नहीं है।

भाई, तेरा ध्येय और तेरा इष्ट कहीं बाहर नहीं है, तुझसे जरा भी दूर नहीं है, तुझमें ही है। इस शरीर जितने तेरे असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र में ज्ञान और आनंद परिपूर्ण भरे हैं। ऐसे ज्ञानानंद से परिपूर्ण तेरा आत्मा ही तेरा इष्ट और ध्येय है। उसका स्व-संवेदन करने से तुझे इष्ट की अर्थात् आनंद की प्राप्ति होगी। वह स्वसंवेदन आत्मा स्वयं अपने से ही कर सकता है, उसमें किसी दूसरे की सहायता नहीं है, राग का अवलंबन नहीं है। ज्ञान स्वयं अंतर्मुख होकर आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और ऐसा स्वसंवेदन ही इष्ट की प्राप्ति का मार्ग है। विकल्परहित अंतर का वेदन, वह आत्मा की अनुभूति है और आत्मा का जो कुछ इष्ट-प्रिय-सुखरूप है, उसका ऐसी स्वानुभूति में ही समावेश होता है।

अरे जीव ! यह इष्ट की प्राप्ति का अवसर है; संत तुझे तेरे इष्ट की प्राप्ति की रीति बतलाते हैं। प्रथम इष्ट के स्वरूप का निर्णय कर... आत्मा का शुद्धस्वरूप क्या है, वह ज्ञान में लेकर सीधा उसे अनुभव में ले। 'सीधा' अर्थात् बीच में अन्य कोई परभाव की ओट रखे बिना मात्र ज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभव में ले। 'मैं अनुभव करूँ'—इतनी वृत्ति का भी जहाँ उत्थान नहीं

है, तथापि आत्मा स्वयं कर्ता होकर स्वानुभवरूप कार्य में परिणमित हो जाता है, स्वयं निजस्वभाव से ही स्वज्ञेय के ज्ञातारूप परिणमित होता है, उसमें किसी दूसरे का अवलंबन नहीं है; ज्ञाता और ज्ञेय ऐसे भेद भी नहीं हैं। द्रव्य-पर्याय की एकता होकर स्वसंवेदनरूप से आत्मा परिणमित हुआ, वहाँ इष्ट की प्राप्ति हुई, अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हुआ।

प्रथम स्वसंवेदनगम्य आत्मा का भलीभाँति निर्णय करने पर ही स्वानुभव की शक्ति प्रगट होती है। कहीं भी परावलंबन की बुद्धि में या पर की मिठास में अटका हो, तब तक आत्मा का स्वसंवेदन नहीं होता। भाई, यह तो आत्मा का रंग चढ़ाने की बात है। जहाँ राग का रंग हो, वहाँ आत्मा अनुभव में नहीं आता। भाई! इष्टरूप इस आत्मा को यदि तुझे अनुभव में लेना हो तो प्रथम उसका स्वरूप ज्ञान में ले। इष्ट का जितना स्वरूप है, उसकी अपेक्षा जरा भी कम मानेगा तो तुझे अपना इष्ट हाथ नहीं आयेगा। परम शुद्धतत्त्व महान है, उसे इष्ट न मानकर राग को-पुण्य को-संयोग को जो इष्ट मानता है, वह रागरहित चैतन्य की प्राप्ति का पुरुषार्थ कहाँ से प्रारम्भ करेगा? जो जिसे इष्ट माने, वह उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। जो राग को इष्ट मानेगा, वह राग के प्रयत्न में रुकेगा, परंतु शुद्धात्मा का प्रयत्न उससे प्रारम्भ नहीं हो सकता। और जिसने शुद्धात्मा को ही इष्ट माना, वह जीव राग के प्रयत्न में नहीं रुकेगा, वह तो स्वानुभव द्वारा राग से पार चैतन्य को प्राप्त करेगा।

भाई, इष्ट का उपाय भी इष्टरूप ही होता है, अर्थात् शुद्धस्वभाव की प्राप्ति का उपाय भी शुद्धभावरूप ही होता है, क्योंकि उपेय और उपाय (साध्य और साधन) दोनों एक जाति के होते हैं-विरुद्ध नहीं होते। इष्ट वीतरागता और उसका साधन राग-ऐसा नहीं होता। जिसप्रकार इष्ट रागरहित है, उसीप्रकार उसकी प्राप्ति का उपाय भी रागरहित ही होता है। राग को साधन बनाकर प्रगट हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है ही नहीं।

जिसे जो इष्ट माने, उसे वह ध्याता है; एक ओर शुद्ध आत्मस्वभाव है, दूसरी और रागादि अशुद्धता तथा शरीरादि संयोग हैं; अब जो जीव राग को या शरीर को सुखरूप-इष्ट माने, वह जीव उस राग को ही ध्येय बनकर उसमें तन्मय वर्तता है, परंतु राग से पार ऐसे शुद्धात्मा को ध्येय नहीं बना सकता। और जिसने शुद्धात्मा को ध्येय बनाया, उसी को इष्टरूप तथा सुखरूप जाना, वह जीव उससे विरुद्ध ऐसे रागादि को या शरीरादि को कभी इष्टरूप नहीं मानता; इसलिए उनमें तन्मय नहीं होता, उनसे भिन्न शुद्ध आत्मा को ही इष्टरूप से ध्या-ध्याकर परमानंदमय परमात्मदशा को प्राप्त करता है। वही महान इष्ट है।●●

वीतरागी ज्ञेय-ज्ञायक संबंध

जब सर्वज्ञस्वभाव का गहरा मंथन चल रहा था, उन दिनों रात्रिचर्चा में स्वामीजी के हृदय से सहज ही निम्नोक्तभाव प्रगट हुए थे....

आत्मा ज्ञानस्वभाव है; उसे परपदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायकरूप संबंध है। यह ज्ञेय-ज्ञायकपने का संबंध, वह वीतरागी संबंध है। आत्मा ज्ञातारूप से जानता है और पदार्थ ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं—ऐसा वीतरागी ज्ञाताज्ञेय संबंध है; इसके अतिरिक्त परमार्थ से अन्य कोई संबंध आत्मा को पर के साथ नहीं है। इससे विशेष संबंध माने तो वह जीव राग-द्वेष-मोह से दु:खी है।

❀ अनुकूल संयोग आत्मा को सुख दें और आत्मा उनमें से सुख ले—ऐसा सुख देने-लेने का संबंध पर के साथ आत्मा को नहीं है; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है।

❀ प्रतिकूल संयोग आत्मा को दु:ख दें और आत्मा उनसे दु:खी हो—ऐसा दु:ख देने-लेने का संबंध भी पर के साथ आत्मा को नहीं है; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। ज्ञेय-ज्ञायक संबंध में यह पदार्थ अनुकूल और यह प्रतिकूल—ऐसे भेद नहीं हैं। ज्ञान के लिये समस्त पदार्थ समानरूप से ज्ञेय है।

❀ आठ कर्म जीव को विकार करायें और आत्मा उनके कारण विकारी हो—ऐसा संबंध आत्मा को पर के साथ नहीं है, मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध हैं।

❀ परद्रव्य कर्ता होकर आत्मा का कार्य करे अथवा आत्मा कर्ता होकर परद्रव्य का कार्य करे—ऐसा कर्ताकर्मपने का संबंध आत्मा को पर के साथ नहीं है; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है।

परवस्तु आत्मा को ज्ञान दे और आत्मा परवस्तु में से ज्ञान ले—ऐसा संबंध भी आत्मा को पर के साथ नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ ज्ञेयों को जानता है। जानने में आत्मा का कार्यक्षेत्र पूर्ण होता है और ज्ञेय होने में पर का कार्य क्षेत्र पूर्ण होता है। इससे आगे बढ़कर ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे को कोई सहायता करें या एक-दूसरे पर प्रभाव डालें—ऐसा

नहीं बनता। बस, ज्ञेय-ज्ञायक संबंध में अकेली वीतरागता है, उसमें बीच में राग नहीं है। राग में और ज्ञान में भी वास्तव में मात्र ज्ञेय-ज्ञायकपना है। ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा को पहिचानने से पर के साथ की एकत्वबुद्धि टूटकर वीतरागता होती है और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; वहाँ आत्मा संपूर्ण ज्ञाता होता है और समस्त पदार्थ उसके ज्ञान में ज्ञेय होते हैं।

मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—'मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने के कारण विश्व के साथ भी मेरा सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंध ही है, परंतु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि संबंध नहीं हैं; इसलिये मुझे किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।'

देखो, ज्ञायकस्वभावी आत्मा को पर के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायकसंबंध है—ऐसे निर्णयपूर्वक शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से मोक्षमार्ग होता है, परंतु इसके अतिरिक्त पर के साथ अन्य कोई संबंध माने, उस जीव को शुद्धात्मा में प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिये वीतरागता या मोक्षमार्ग नहीं होता। जिसे पर के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है, ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा का जो निर्णय करता है, वह जीव उसमें प्रवृत्ति द्वारा मोह को उखाड़कर केवलज्ञानी सर्वज्ञ होता है।

❋❋❋

प्रश्न—सर्वज्ञ सो ज्ञाता, और जगत सारा ज्ञेय; तो वहाँ ज्ञेय के अनुसार ज्ञान है या ज्ञान के अनुसार ज्ञेय है ?

उत्तर—सर्वज्ञ का ज्ञानपरिणमन और जगत के पदार्थों का ज्ञेयपरिणमन—यह दोनों स्वतंत्र होने पर भी, दोनों के ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का ऐसा मेल है कि जैसा सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात हुआ है, वैसा ही पदार्थ का परिणमन होता है, और जैसा पदार्थ का त्रैकालिक परिणमन है, वैसा ही सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात होता है; एक-दूसरे से विरुद्धता नहीं है। केवलज्ञान में कुछ अन्य ज्ञात हो और पदार्थ का परिणमन अन्य प्रकार का हो—ऐसा बने तो केवलज्ञान मिथ्या हो जाये! और पदार्थ एक प्रकार से परिणमित हों तथा ज्ञान उन्हें दूसरे प्रकार से जाने, तब भी ज्ञान मिथ्या हो जायेगा; और ऐसा होने पर उसका पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायकपना भी कहाँ रहा ? इसलिये स्वतंत्रता होने पर भी ऐसा ज्ञेय-ज्ञायकपना है कि—जैसा ज्ञेयों में परिणमन है, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है, और ज्ञान जैसा जानता है, ज्ञेयों में वैसा ही परिणमन होता है; अन्यथा नहीं होता। ऐसे ज्ञान-ज्ञेयस्वभाव का निर्णय, वह वीतरागता का कारण है।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक - ३५] [अंक २७२ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

भेदज्ञान वह परमशांति का मूल है। ऐसे भेदज्ञान की भावना का घोलन करते हुए कहा है कि—जिसप्रकार मोटे वस्त्र से लोग अपने को मोटा-हृष्टपुष्ट नहीं मानते, उसीप्रकार बुद्धिमान पुरुष मोटे शरीर में विद्यमान आत्मा को उस शरीररूप-मोटा नहीं मानते; परंतु जिसप्रकार शरीर से वस्त्र भिन्न है, उसीप्रकार आत्मा से शरीर को भिन्न जानते हैं।

पुनश्च कहते हैं कि—

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

शरीर पर पहना हुआ वस्त्र जीर्ण हो जाये अथवा फट जाये, उससे कहीं शरीर जीर्ण नहीं होता या फट नहीं जाता; उसीप्रकार यह शरीर जीर्ण हो जाने से कहीं आत्मा जीर्ण नहीं होता। शरीर जीर्ण हो जाये-रोगग्रस्त हो जाये या वृद्ध हो जाये तो मैं जीर्ण हो गया-मैं रोगी हो गया अथवा वृद्ध हो गया—ऐसा बुधजन अर्थात् ज्ञानी नहीं मानते। मैं तो ज्ञाता हूँ, मैं स्वयंसिद्ध अनादि-अनंत हूँ; बाल, युवा या वृद्धावस्था मेरी नहीं है। हाँ, आत्मा की अज्ञानदशा में बालपन था, अब आत्मप्रतीतिरूप साधकदशा, वह धर्म की युवावस्था है, अर्थात् पुरुषार्थ की दशा है और केवलज्ञान तथा सिद्धपद की प्राप्ति हो, वह आत्मा की वृद्धावस्था है, अर्थात् वहाँ ज्ञान परिपक्व हो गया है। इसके अतिरिक्त शरीर की बाल, युवा या वृद्धावस्था, वह आत्मा की नहीं है। शरीर वृद्ध हो और शरीर की शक्तियाँ क्षीण हो जायें, उससे कहीं आत्मा की ज्ञानशक्ति का घात नहीं हो जाता। ज्ञान तो जानता है कि इस शरीर में पहले ऐसी शक्ति थी और अब शरीर में ऐसी शक्ति नहीं है। परंतु शरीर में शक्ति हो या न हो, वह कहीं मेरा कार्य नहीं है। मैं तो ज्ञान और आनंदस्वरूप ही हूँ, ज्ञान में ही मेरा अधिकार है, शरीर में मेरा अधिकार नहीं है।

अज्ञानी को तो शरीर और इन्द्रियों से पार चैतन्यतत्त्व लक्ष में ही नहीं आया, इसलिये शरीर तथा इन्द्रियों को ही वह आत्मा मानता है। जहाँ शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, वहाँ उस अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'मेरी शक्ति क्षीण हो गई' इसलिये वह अज्ञानी तो देहदृष्टि से आकुल-व्याकुल ही रहता है; शरीर की अनुकूलता हो, वहाँ 'मैं सुखी', ऐसा मानकर वह अनुकूलता में मूर्च्छित हो जाता है; और जहाँ प्रतिकूलता हो, वहाँ 'मैं दुःखी'—ऐसा मानकर वह प्रतिकूलता में मूर्च्छित हो जाता है; ज्ञानी तो शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपने को जानते हैं; इसलिये वे किन्हीं भी संयोगों में मूर्च्छित नहीं होते; चैतन्य के लक्ष से उन्हें शांति रहती है ॥६४॥

पुनश्च, जिसप्रकार शरीर की युवा या वृद्धावस्था से धर्मी अपने को युवा या वृद्ध नहीं मानता; उसीप्रकार शरीर के नाश से धर्मी अपना नाश नहीं मानते—यह बात कहते हैं—

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहोव्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

जिसप्रकार वस्त्र का नाश होने से उस वस्त्र को पहिननेवाला मनुष्य अपना नाश नहीं मान लेता; वस्त्र की बाँह कटने से कहीं मनुष्य का हाथ नहीं कट जाता; उसीप्रकार अपने शरीर का नाश होने से ज्ञानी अपना नाश नहीं मानते। शरीर पुष्ट-स्वस्थ रहे, जीर्ण हो जाये या नष्ट हो जाये—इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न मैं तो ज्ञान हूँ; शरीर की बाल, युवा तथा वृद्ध तीनों दशाओं का ज्ञाता हूँ परन्तु उनरूप होनेवाला मैं नहीं हूँ।

जैसे किसी को स्वप्न आया कि 'मैं मर गया;' और ऐसे स्वप्न से भयभीत होकर चिल्लाकर जाग पड़ा, जागकर देखा कि 'अरे! मैं तो जीवित हूँ!' स्वप्न में अपने को मर गया माना, वह भ्रम था; उसीप्रकार जीव यह शरीर छोड़कर दूसरे भव में जाये, वहाँ अज्ञाननिद्रा में सोता हुआ अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है कि 'अरे रे! मैं मर गया!' परंतु जातिस्मरण आदि ज्ञान द्वारा प्रतीति होती है कि पूर्वकाल में जिस अमुक भव में था, वही आत्मा मैं वर्तमान में हूँ; इसलिये मेरी मृत्यु नहीं हुई है। मैंने पूर्वकाल में शरीर से एकत्व दृष्टि के कारण अपना मरण माना था। यहाँ जातिस्मरण का दृष्टांत है, तदनुसार ज्ञानी तो सदैव अपने आत्मा को शरीर से भिन्न ही जानता है। मैं तो ज्ञान हूँ, मैं शरीर हूँ ही नहीं, फिर मेरा नाश कैसा? शरीर नाश के समय भी ज्ञानी को ऐसा संदेह नहीं होता कि 'मेरा मरण होगा', इसलिये ज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं

है। मृत्यु मेरी है ही नहीं—ऐसा जान लिया, फिर मृत्यु का भय कैसा? शरीर को अपना माननेवाले मूढ़ जीवों को ही मरण का भय है; आत्मा को शरीर से भिन्न जाननेवाले संतों को मृत्यु का भय नहीं होता। सिंह-बाघ आये और ज्ञानी निचली दशा में चारित्र की कमजोरीवश भय से भागे, तथापि उस समय भी उसे ऐसा भय नहीं है कि मेरी मृत्यु हो जायेगी; मेरा चैतन्यतत्त्व अविनाशी है, पूर्वभवों में अनंत शरीरों का संयोग आया और छूट गया, तथापि मेरा नाश नहीं हुआ; मैं तो ज्ञानस्वरूप ज्यों का त्यों हूँ; शरीरादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, मेरी वस्तु तो ज्ञान-आनंदमय है, वह कभी मुझसे पृथक् नहीं होती। इसप्रकार धर्मात्मा शरीर के नाश से अपना नाश नहीं मानते; परंतु अपने को अविनाशी ज्ञानस्वरूप अनुभव करते हैं; इसलिये उन्हें परम शांति एवं समाधि वर्तती है। इसप्रकार भेदज्ञान की भावना ही परम शांति देनेवाली है ॥६५॥

पुनश्च, जिसप्रकार वस्त्र के लाल-पीले-काले या सफेद आदि रंग से लोग अपने को वैसे रंग का नहीं मान लेते; उसीप्रकार शरीर के लाल-पीले-काले या सफेद आदि रंगों से ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को वैसा नहीं मानते—

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

जिसप्रकार लाल आदि रंगवाला वस्त्र पहिनने से लोग अपने को वैसे रंग का नहीं मान लेते; वस्त्र के रंग को शरीर का रंग नहीं मानते; उसीप्रकार ज्ञानी शरीर के रंग को आत्मा का रंग नहीं मानते। रंगवाला लाल-पीला शरीर, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो रंगरहित अरूपी चैतन्य हूँ; इसप्रकार ज्ञानी अपने को शरीर से भिन्न जानते हैं।

जिसप्रकार श्वेत मनुष्य काला वस्त्र पहिन ले तो उससे वह कहीं काला नहीं हो जाता और काला मनुष्य श्वेत वस्त्र पहनने से श्वेत नहीं हो जाता, क्योंकि वस्त्र और शरीर भिन्न हैं; उसीप्रकार काले-लाल शरीर से आत्मा, काला-लाल नहीं हो जाता। शरीर सुंदर होने से आत्मा में गुण हो जाये और शरीर कुरूप होने से आत्मा में अवगुण हो जाये-ऐसा नहीं है। किसी का शरीर कुरूप हो, तथापि केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करता है; उसमें कहीं शरीर बाधक नहीं होता; और किसी का शरीर सुंदर हो, तथापि पाप करके नरक में जाता है;—उसे शरीर रोक नहीं सकता; शरीर और आत्मा तो भिन्न ही हैं।

जैसे लाल वस्त्र बदलकर पीला पहिनने से कहीं शरीर नहीं बदल जाता; उसीप्रकार मनुष्य का शरीर बदलकर देव का शरीर मिले तो उसमें कहीं आत्मा बदलकर दूसरा नया नहीं आता; आत्मा तो अखण्डरूप से वही रहता है। मनुष्य शरीर में जो आत्मा था, वही देव के शरीर में आत्मा है; लाल-पीले रंग दिखायी देते हैं, वह आत्मा नहीं है; आत्मा तो रंगरहित अरूपी चैतन्यमूर्ति है।—इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है।

अहा, देखो तो सही, जिसप्रकार लकड़ी या पत्थर का खम्भा आत्मा से भिन्न है; उसीप्रकार यह शरीर भी आत्मा से पृथक् ही है। जिसप्रकार खम्भे की क्रिया से आत्मा को धर्म नहीं है; उसीप्रकार शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म नहीं है। जिसप्रकार खम्भा अचेतन परमाणु का पिण्ड है, उसीप्रकार शरीर भी अचेतन परमाणु का पिण्ड है।

ज्ञानी ने यहीं से देहात्मबुद्धि छोड़ दी है, इसलिये वे पुनः देह धारण नहीं करते; अज्ञानी को तो शरीर में ही आत्मबुद्धि है, इसलिए देह के ममत्व के कारण वह पुनः-पुनः शरीर धारण करता है और संसार में भटकता है। ज्ञानी को चारित्र में दोषवश कदाचित् एक-दो भव धारण करना पड़ें परंतु वहाँ वे शरीर को आत्म-बुद्धि से धारण नहीं करते; वे तो आत्मा को ही अपना मानकर आराधना करते हैं और उसकी आराधना से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

धर्मी जानता है कि यह शरीर तो अनित्य है; क्षण में पलटकर नष्ट हो जाये ऐसा है; परन्तु मेरा आत्मा तो नित्य-स्थायी है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता; आत्मा की पर्यायें बदलती हैं परंतु उसका सर्वथा नाश नहीं होता। शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिण्ड है, उसमें कहीं सुख या धर्म नहीं भरा है; मेरा तो चैतन्य-शरीर है, मेरे चैतन्य-शरीर में ही ज्ञान-आनंद भरे हैं, उसमें जितनी एकाग्रता करूँ, उतने ही ज्ञान-आनंद प्रगट होते हैं।—ऐसा जानकर धर्मी अपने आत्मा में ही एकाग्रता करता है, उसका नाम धर्म है।

जो बीत चुकी है, ऐसी बाल या युवा अवस्था को जीव जानता है परंतु शरीर की उस बीती हुई अवस्था को वह वापिस नहीं ला सकता; शरीर को वृद्ध से युवा या बाल्यावस्था में नहीं ला सकता; क्योंकि वह वस्तु ही अलग है। आत्मा उसका ज्ञान कर सकता है परंतु उसे बदल नहीं सकता। वैसे ही शरीर काला हो, उसे आत्मा जान सकता है परंतु उसे काले से सफेद नहीं बना सकता।

अज्ञानी शरीर के रंग को ही अपना रंग मानता है; परंतु अपने चैतन्य के रंग को नहीं

जानता कि जिससे भव का नाश हो जाये ! चैतन्य का रंग क्या ?—कि अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद ही चैतन्य का रंग है, वही चैतन्य का रूप है; सिद्धसमान (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) उसकी आँखें हैं। कामदेव समान शरीर का रूप या मृग जैसी आँखें, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है; उनसे तो आत्मा पृथक् है। ऐसे आत्मस्वरूप को जो नहीं जानता और शरीर को ही आत्मा मानता है, उसे धर्म नहीं होता और धर्म के बिना शांति या समाधि नहीं होती।

सनतकुमार चक्रवर्ती का महा सुंदर रूप था; देवों की सभा में उनके रूप की प्रशंसा होने पर देव उनका रूप देखने आये और आश्चर्यमुग्ध हो गये। चक्रवर्ती उस समय स्नान की तैयारी में थे; उन्होंने किंचित् रूप के अभिमान में देवों से कहा कि अभी तो मैं अलंकाररहित हूँ; परंतु जब मैं अलंकृत होकर राजसभा में ठाटबाट से बैठूँगा, तब तुम मेरा रूप देखने आना। जब देव राजसभा में आये और रूप देखकर खेद से सिर हिलाने लगे, तब चक्रवर्ती पूछता है कि—अरे देवो ! ऐसा क्यों करते हो ? शृंगाररहित शरीर देखकर तो तुम आश्चर्यचकित हो गये थे और इस समय इतना भारी शृंगार होने पर भी तुम असंतोष व्यक्त कर रहे हो ! तब देव कहते हैं कि—हे राजन् ! उस समय तेरा शरीर जैसा निर्दोष था, वैसा अब नहीं रहा, अब उसमें रोग का प्रवेश हो गया है; उसका सड़ना प्रारम्भ हो गया है। यह सुनते ही राजा एकदम वैराग्य को प्राप्त होता है और विचारता है कि—अरे, ऐसा क्षणभंगुर शरीर ! शरीर के रूप की ऐसी क्षणिकता !! शरीर से भिन्नता की प्रतीति तो थी, परंतु किंचित् राग था, उसे भी तोड़कर अतीन्द्रिय चैतन्य की साधना के लिये निकल पड़े ! जिसे शरीर से भिन्नता की प्रतीति नहीं है और शरीर की क्रियाओं को—उसके रूप को अपना मानता है, वह देहातीत ऐसे सिद्धपद को या आत्मा को कहाँ से साधेगा ? भाई, सम्यग्दर्शन होते ही शरीर के रूपमद का भी अभाव हो जाता है। समस्त परद्रव्यों की भाँति शरीर का भी वह अपने से भिन्न ही अनुभव करता है। ऐसे अनुभववाला भेदज्ञान ही शांति का एवं समाधि का उपाय है।

वीतरागी संतों की वाणी का स्वाध्याय एवं मनन करते हुए मानों उन संतों के चरण-समीप बैठकर उनके साथ तत्त्वगोष्ठी कर रहे हों—ऐसा आह्लाद, बहुमान और श्रुतभावना मुमुक्षु को जागृत होती है।

तत्त्वचर्चा

[लेखांक - ९]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय 'दस प्रश्न और उनके उत्तर' का यह विभाग पूज्य स्वामीजी के समक्ष हुई तत्त्वचर्चा से तथा शास्त्रों में से तैयार किया जाता है।

—सम्पादक

(८१) **प्रश्न**—किसी पर प्रशस्त राग होता हो तो वह पूर्वभव का कोई संबंधी होगा?

उत्तर—ऐसा कोई नियम नहीं है कि पूर्वभव का संबंध हो, तभी प्रशस्त राग होता है; तथा किसी पर द्वेष होने से वह पूर्वभव का शत्रु होगा, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। पूर्वभव के संबंध बिना भी नवीन परिचय में आये हुए जीवों पर भी राग-द्वेष होता है, जो अपने उल्टे पुरुषार्थरूप दोष ही है। वीतरागी ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा राग-द्वेष टलता है; फिर तो पूर्वभव के शत्रु-मित्र मानना रहता ही नहीं, किसी के प्रति द्वेष-राग नहीं होता।

(८२) **प्रश्न**—जीवन अल्प और जंजाल बड़ी, तो क्या किया जाये जिससे जंजाल छूटे?

उत्तर—भाई! चैतन्य का जीवन अल्प नहीं है, वह तो शाश्वत जीवनवाला है। जंजाल अर्थात् बाह्य संयोग, वे तो क्षणिक हैं; परंतु मोह के कारण उन्हें अपना मानकर तूने जंजाल को बढ़ाया है। मोह छूटे तो जंजाल छूटे। मोह को तोड़ने के लिये पर से भिन्न, शुभाशुभ आस्रवतत्त्व से भिन्न चैतन्यतत्त्व का अंतर में बारंबार तीव्र प्रेम से अभ्यास करना चाहिये।

(८३) **प्रश्न**—जीव केवलज्ञानरूप परिणमित होता है, तब किसे कारणरूप ग्रहण करके परिणमित होता है?

उत्तर—अपने अनादि-अनंत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके तुरंत ही जीव केवलज्ञानरूप परिणमित होता है। (सम्यग्दर्शन भी त्रैकालिक निज ज्ञानघन स्वभाव का आश्रय करने से होता है; पराश्रय-व्यवहार के आश्रय से नहीं)। (प्रवचनसार, गाथा २१ टीका)

किसी भी परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना एक आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके जीव केवलज्ञानरूप परिणमित होता है। (देखो, प्रवचनसार, गाथा-५८)

आत्म स्वयमेव छह कारकरूप होकर केवलज्ञानरूप परिणमित होता है और पर के साथ उसे कारकपने का संबंध नहीं है, उसका वर्णन प्रवचनसार की १६वीं गाथा में है।

(८४) **प्रश्न**—नियम से-निश्चितरूप से मुमुक्षु का क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—शुद्ध रत्नत्रयरूप कार्य, वह नियम से मुमुक्षु का कर्तव्य है; क्योंकि उसके द्वारा नियम से मोक्ष सधता है, उसके बिना कदापि मोक्ष नहीं सधता; इसलिये वह नियम से मुमुक्षु का कर्तव्य है।

'णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।'

जो नियम से कर्तव्य, ऐसे रत्नत्रय वह नियम है।'(नियमसार, गाथा-३)

(८५) **प्रश्न**—नववें ग्रैवेयक में असंख्य जीव हैं, उनमें सम्यग्दृष्टि अधिक होंगे या मिथ्यादृष्टि ?

उत्तर—नववें ग्रैवेयक में सम्यग्दृष्टि जीव अधिक हैं और मिथ्यादृष्टि कम हैं।

(८६) **प्रश्न**—अनादिकालीन अधर्मी जीव को किस भाव द्वारा धर्म का प्रारंभ होता है ?

उत्तर—सर्वप्रथम औपशमिक भाव द्वारा धर्म का प्रारम्भ होता है।

(८७) **प्रश्न**—धर्म की पूर्णता किस भाव से होती है ?

उत्तर—क्षायिकभाव से धर्म की पूर्णता होती है।

(८८) **प्रश्न**—संसारी और मुक्त सर्व जीवों में हो वह कौन सा भाव ?

उत्तर—पारिणामिक भाव सर्व जीवों के होता है।

(८९) **प्रश्न**—संसार दशा में न हो, वह कौन सा भाव ?

उत्तर—संसार दशा में पाँचों भाव संभव हैं; क्षायिकभाव भी अरहंतादि के होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चारों गति में चतुर्थ गुणस्थान में होता है।

(९०) **प्रश्न**—मोक्षदशा में न हों, वे कौन से भाव हैं ?

उत्तर—पाँच भावों में से उदय, उपशम और क्षयोपशम—यह तीन भाव मोक्ष में नहीं होते; शेष दो भाव—क्षायिक और पारिणामिक ही मोक्ष में होते हैं।●●

विविध वचनामृत

[लेखांक : १७]

(२२१) भेदज्ञान

स्वद्रव्य की एकाग्रता से अपनी निर्मल पर्याय खिलती है, तथा पराश्रय-राग में एकाग्रता करने से आकुलता होती है, निर्मलता नष्ट होती है; इसलिये स्वद्रव्य और राग दोनों वस्तुएँ अलग-अलग हैं। ज्ञान और राग, आत्मा और आस्रव भिन्न-भिन्न हैं।

स्वद्रव्य में उपयोग लगाने से आत्मिक आनंद का वेदन होता है, राग में उपयोग लगाने से दु:ख का वेदन होता है, आनंद का वेदन किंचित् नहीं होता; इसलिये अपना स्वद्रव्य ही आनंद का धाम है। ऐसा स्व-संवेदनमय भेदज्ञान धर्मी को होता है।

(२२२) चैतन्य का मंथन

चैतन्य का परमशांत परिणाम द्वारा मंथन ही कषायरूपी क्लेश को जीतने का उपाय है। चैतन्य के मंथन में कषाय उत्पत्ति कहाँ से हो ? वहाँ तो परिणाम शांत-शांत ही होते जाते हैं।

जहाँ कषायों को भला मानने की बुद्धि है, वहाँ चैतन्य का मंथन नहीं है; चैतन्यरस का अनुभव होगा, वहाँ राग का राग नहीं होगा, कषायों का प्रेम नहीं होगा।

(२२३) इसका नाम ज्ञान...

त्रैकालिक स्वभाव और राग की संधि को तोड़नेवाला ज्ञान अति सूक्ष्म है, शुभाशुभराग की स्थूलता से दूर है, वह ज्ञान अपनी उग्रशक्ति से अत्यंत तीक्ष्ण प्रहार करके सभी विभावों को छेदकर ज्ञानस्वभाव में प्रवेश करता है; ज्ञान में तन्मय होकर वह स्वयं परमानंदरूप बन जाता है। इसका नाम ज्ञान और पुरुषार्थ है।

(२२४) जैसा द्रव्य वैसी पर्याय

जिसप्रकार द्रव्य की महिमा ज्ञान-आनंदस्वभाव द्वारा है, राग से नहीं; उसीप्रकार पर्याय की महिमा भी ज्ञान-आनंदस्वभाव से ही है, राग से नहीं।

जो पर्याय राग की महिमा में रुकेगी, वह पर्याय ज्ञान-आनंदरूप नहीं होगी।

राग और ज्ञान में हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय भिन्न-भिन्न होने से ज्ञान-

आनंदरूप पर्याय है, वह राग से पृथक् है। स्वभाव की महिमा की ओर जो पर्याय झुकेगी, वह ज्ञान-आनंदरूप होगी।

(२२५) श्रद्धा की बात

प्रश्न—देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा वह सम्यक्त्व है ?

उत्तर—हाँ, किंतु वह देवादि रागवाले या वीतरागी हैं ? देव तो १८ दोषरहित सर्वज्ञ-वीतराग हैं, गुरु बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रंथ हैं जो पूर्णता के साधक हैं और शास्त्र भी यही बतलाते हैं; तीनों राग रहित निर्दोष हैं। बस, ऐसे राग रहित देव-शास्त्र और गुरु की श्रद्धा करना हो तो वह श्रद्धा निर्दोष अर्थात् राग रहित भाव से ही हो सकती है। राग में अटके हुए भाव से कहीं वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं होगी। अतः स्वोन्मुख ज्ञान द्वारा राग से अलग होकर ज्ञानभाव में आये, उसी को वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची प्रतीति होती है; राग की रुचि-राग का राग रखकर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची प्रतीति नहीं हो सकती। इसप्रकार निश्चयश्रद्धा और व्यवहारश्रद्धा दोनों एक साथ हैं—ऐसा समझना चाहिये।

(२२६) एकत्व के निजवैभव का उपभोग कर

अरे परिणति, तू विकार के साथ एकता करने जाती है, वहीं स्वभाव के साथ तेरी भिन्नता हो जाती है !

यदि स्वभाव के साथ एकता करनी हो तो विकार के साथ की एकता को तोड़।

ज्ञान और राग में कभी एकता हुई ही नहीं, सदा भिन्नता ही है। ऐसी भिन्नता को जानकर ज्ञान के साथ ज्ञान की एकता कर, इसप्रकार एकत्व-विभक्त होकर अपने निजवैभव का आनंद सहित उपभोग कर।

(२२७) छुटकारे की खुशी

अरे जीव ! छुटकारा होने पर पशु भी खुशी से कूदने लगते हैं; और तुझे अनादिकालीन भवबंधन से छूटने का यह अवसर आया, उस समय तेरा आत्मा खुशी से उछलने न लगे-ऐसा कैसे हो सकता है ? तुझे बंध की (पुण्य-पाप की) बात का उल्लास आता है और मोक्ष की बात का उल्लास न आये तो यह तुझे क्या हुआ है ? पशु जैसा भी तू नहीं हुआ ? भाई, संत तुझे मोक्ष का उपाय बतलाते हैं, अनादि के बंधन से छूटने की रीति समझाते हैं तो उसमें उत्साह कर... मोक्ष में महान सुख है, ऐसा जानकर तू उल्लसित हो...।

(२२८) वैराग्य का मंत्र

जिस किसी परिस्थिति से तुझे दु:ख लगता हो तो विचार कि वह परिस्थिति अस्थिर है; वह कोई सदा रहनेवाली नहीं है, अमुक काल में वह बदल जायेगी। इसलिये खेद छोड़कर, किसी भी अस्थिर प्रसंग संबंधी हर्ष-विषाद छोड़कर स्थिर रहनेवाला ऐसा जो तेरा ध्रुव चिदानंदस्वभाव है, उसकी शरण ले। वैराग्यरूपी अमोघ मंत्र द्वारा संयोगों के प्रति विरक्त होकर स्वभाव की ओर परिणति को झुका।

(२२९) मैं कौन ?

अज्ञानी कहता है कि-शरीर मेरा, पैसा मेरा, और मैं उनका।

ज्ञानी जानता है कि 'मैं ज्ञान;' ज्ञानानंद चैतन्यस्वभाव मेरा और मैं उसका।

अध्यात्म-पद

(राग : सारंग)

हम लागे आतमराम सों ।टेक ॥
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धनमान सों ॥ हम० ॥१ ॥
समतासुख घट में परगास्यो, कौन काज है काम सों।
दुविधा-भाव जलांजुलि दीनौं, मेल भयो निज स्वाम सों ।हम० ॥२ ॥
भेदज्ञानकरि निज-परि देख्यो, कौन बिलोकै चाम सों।
उरै परै की बात न भावे, लौ लाई गुणग्राम सों ।हम० ॥३ ॥
विकलपभाव रंक सब भागे, झरि चेतन अभिराम सों।
'द्यानत' आतम अनुभव करिके खूटे भवदुखधाम सों ॥४ ॥

मोक्षमार्ग की सरस बात

शुद्ध निश्चय-व्यवहार को सम्यक्त्वी ही जानता है।
अध्यात्मपद्धति से मोक्ष सधता है;
बंधपद्धति से मोक्ष नहीं सधता।

'सम्यग्दृष्टि बाह्यभाव को बाह्यनिमित्तरूप मानता है; वे निमित्त अनेकरूप हैं, एकरूप नहीं हैं; इसलिए अंतर्दृष्टि के प्रमाण में वह मोक्षमार्ग को साधता है। सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होने पर मोक्षमार्ग सच्चा। मोक्षमार्ग को साधना, वह व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियरूप, वह निश्चय—ऐसे निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है। मूढ़ जीव वह नहीं जानता और न मानता है। मूढ़ जीव बंधपद्धति को साधता हुआ उसे मोक्षमार्ग कहता है परंतु ज्ञाता वह बात नहीं मानता; क्यों ?—क्योंकि बंध को साधने से बंध सधता है परंतु मोक्ष नहीं सधता।' (परमार्थ वचनिका)

देखो, यह मोक्षमार्ग की सरस बात! धर्मी जीव किसप्रकार से मोक्षमार्ग साधता है और अज्ञानी उसमें क्या भूल करता है, वह बतलाया है। धर्मी जीव को संदेहरहित स्वानुभवपूर्वक दृढ़ निश्चय है कि मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ, मेरा मोक्षमार्ग अपने ज्ञानस्वरूप के ही आश्रित है।

त्रैकालिक शुद्धद्रव्य, वह मेरा निश्चय और उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपर्याय, वह मेरा व्यवहार है; इसके अतिरिक्त रागादि परभाव, वे मुझ से बाह्य हैं। देखो, यहाँ कौन सा व्यवहार लिया ?—कि शुद्ध द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना, वह धर्मी का व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा व्यवहार नहीं होता, और न वह ऐसे व्यवहार को जानता है।

शुद्धद्रव्य, सो निश्चय और शुद्ध परिणति, सो व्यवहार—ऐसा कहकर निश्चयव्यवहार दोनों को एक ही वस्तु के अंग बताये और रागादि अन्य भावों को व्यवहार नहीं कहा परंतु 'निमित्त' कहकर उन्हें भिन्न बतलाया है।

निश्चयव्यवहार दोनों एक प्रकार के एक जाति के हैं और परभावरूप निमित्त तो अनेक प्रकार के हैं। जिसप्रकार बाह्य द्रव्य निमित्त है परंतु उसके आधार से कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; उसीप्रकार अंदर का शुभराग भी बाह्यद्रव्य की भाँति ही निमित्त है; परंतु उसके आधार से मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग से तो जिसप्रकार अन्य द्रव्य बाह्य (भिन्न) हैं, उसीप्रकार शुभराग

भी (भिन्न) है। अंतर्दृष्टि द्वारा धर्मी जीव ऐसे मोक्षमार्ग की साधना करता है।

ऐसी अंतर्दृष्टि के बिना अज्ञानी शुभराग करे और व्यवहाररत्नत्रय आदि शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान ले परंतु वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो मात्र भ्रम है। सम्यग्दर्शन हो और स्वानुभव की कणिका जागे, तभी मोक्षमार्ग सच्चा। इसके बिना मोक्षमार्ग झूठा है अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है। अरे, सम्यग्दर्शन और स्वानुभव के बिना मात्र शुभराग को मोक्षमार्ग मानना, वह तो वीतराग जैनमार्ग की विराधना है। जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा मोक्षमार्ग नहीं कहा है। जिनभगवान ने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है और वह स्वानुभवपूर्वक ही होता है। स्वरूपाचरणचारित्र भी चौथे गुणस्थान में स्वानुभवपूर्वक ही प्रगट होता है; स्वानुभव के बिना शुभराग करते-करते मोक्षमार्ग प्रगट हो जाए, ऐसा कभी नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि वह शुभराग बाह्य निमित्तरूप हैं, और वह भी किसे? कि अंतर्दृष्टिपूर्वक जो मोक्षमार्ग को साधता है, उसे बाह्यनिमित्त है, अज्ञानी को तो वह मोक्षमार्ग का निमित्त भी नहीं है। उपादान में ही वह मोक्षमार्ग को नहीं साधता तो फिर उसे मोक्षमार्ग का निमित्त कैसा? अध्यात्मपद्धति ही उसके नहीं है, वह तो मात्र बंधपद्धति में लगा हुआ है।

मोक्षमार्ग में शुभराग को निमित्तरूप कहा है, वह शुभराग सभी मोक्षमार्गियों को एक ही प्रकार का हो - ऐसा नहीं है; उसमें अनेक प्रकार होते हैं। स्वभाव के परिणाम एक से होते हैं, परंतु विकार के परिणाम सबको एक से नहीं होते। द्रव्यस्वभाव तीनों काल एक सा है। अखंड, अक्रिय, शुद्धद्रव्य, सो निश्चय और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग साधना, सो व्यवहार। मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयरत्नत्रयपरिणति, वह धर्मी का व्यवहार है, और जो व्यवहाररत्नत्रय (शुभरागरूप) है, वह बाह्य निमित्तरूप है। यहाँ मोक्षमार्ग पर्याय को व्यवहार कहा, वह मोक्षमार्ग कहीं रागयुक्त नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय रागरूप है, वह तो बंधपद्धति में है और निश्चयरत्नत्रय मोक्षमार्गपद्धति में है। मोक्षमार्ग का और निश्चय-व्यवहार का ऐसा स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है; मूढ़-आानी को उसकी खबर नहीं पड़ती; वह तो बंधपद्धति को-(राग को) साधता हुआ उसी को मोक्षमार्ग मानता है। भाई, राग तो बंधभाव है, उसके द्वारा मोक्ष कहाँ से सधेगा? अरे! बंधभाव और मोक्षभाव के बीच का भी जिसे विवेक नहीं है, उसे शुद्धात्मा का वीतरागी संवेदन कहाँ से होगा? और स्वानुभव की किरण फूटे बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से प्रगटेगा? अज्ञानी को स्वानुभव का एक कण भी नहीं है; तो फिर मोक्षमार्ग

कैसा ? स्वानुभव के बिना जो भी भाव करता है, उन सब भावों का समावेश बंधपद्धति में होता है, उनसे बंधन की सिद्धि होती है, वे कोई भाव मोक्षमार्ग में नहीं आते और न उनसे मोक्ष की सिद्धि होती है।

जिसप्रकार सीधे राजमार्ग में काँटे-कंकड़ नहीं होते, उसीप्रकार मोक्ष का यह सीधा-स्पष्ट राजमार्ग है, उसमें राग की रुचिरूपी काँटे-कंकड़ नहीं हैं। संतों ने शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग पर चलकर मोक्ष की साधना की है और वही मार्ग जगत को बतलाया है।

प्रश्न—यह राजमार्ग है तो दूसरी पगडंडी होगी न ?

उत्तर—पगडंडी कहीं राजमार्ग से विरुद्ध तो नहीं होती। राजमार्ग पूर्व की ओर जाता हो और पगडंडी पश्चिम दिशा में जाती हो, ऐसा तो नहीं होता। भले ही पगडंडी हो परंतु उसकी दिशा तो राजमार्ग के साथ ही चलती है। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपरांत शुद्धोपयोगी चारित्रदशा तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उसके द्वारा उसी भव में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है; और ऐसी चारित्रदशारहित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से उसे पगडंडी कहा जाता है, वह एक-दो भव में मोक्षमार्ग पर आकर मोक्ष को साधेगा। पूर्ण मोक्षमार्ग हो या अपूर्ण मोक्षमार्ग हो, परंतु उन दोनों की दिशा तो स्वभाव के ओर की ही है, राग की ओर किसी की दिशा नहीं है। रागादि भाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत हैं अर्थात् बंधमार्ग के द्वारा मोक्षमार्ग नहीं सधता।

क्या शुभराग मोक्ष का कारण होगा ?-तो कहते हैं कि नहीं; राग के समय राग का निषेध करनेवाला कौन सा भाव है ? राग के समय राग का निषेध करनेवाले जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं, वही मोक्षमार्ग है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान जागृत होने पर ही सच्चा मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। सम्यग्दृष्टि स्वानुभव के प्रमाण में मोक्षमार्ग को साधता है; शुभराग के प्रमाण में कहीं मोक्षमार्ग नहीं सधता; वह तो बंधपद्धति है।

'तो क्या सम्यग्दृष्टि अध्यात्म के ही विचार में रहते होंगे ? क्या बंधपद्धति के विचार ही उन्हें नहीं आते होंगे ?'—ऐसा प्रश्न किसी को उठे तो उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—'जब ज्ञाता कदाचित् बंधपद्धति का विचार करता है, तब वह जानता है कि इस बंधपद्धति से मेरा द्रव्य अनादि काल से बंधरूप चला आ रहा है; अब उस पद्धति के मोह को तोड़कर वर्त। इस बंधपद्धति का राग पूर्ववत् है नर ! तू क्यों कर रहा है ?—इसप्रकार क्षणमात्र

भी बंधपद्धति में वह मग्न नहीं होता। वह ज्ञाता अपना स्वरूप विचारता है, अनुभव करता है, ध्याता-गाता है, श्रवण करता है तथा नवधाभक्ति, तप-क्रिया अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर करता है-वह ज्ञाता का आचार है। इसी का नाम मिश्र व्यवहार है।'

देखो, यह साधक जीव का व्यवहार और उसकी विचारश्रेणी! उसे स्वभाव का कितना रंग है! बारंबार उसी का विचार, उसी का मनन, उसी का ध्यान-अनुभव का अभ्यास, उसी का गुणगान और उसका श्रवण, सब प्रकार उसी की भक्ति; जिस किसी क्रिया में प्रवर्तन करता है, उसमें सर्वत्र शुद्धस्वरूप की सन्मुखता ही मुख्य है। उसके विचार में भी स्वरूप के विचार की मुख्यता है, इससे कहा है कि ''ज्ञाता 'कदाचित्' बंधपद्धति का विचार करे''.... तब भी उससे छूटने का ही विचार करता है। अज्ञानी तो सब राग की मुख्यता से करता है, धर्म के नाम पर कितना भी करे किंतु शुद्धस्वरूप की सन्मुखता उसे जरा भी नहीं है। कर्मबंधन आदि के विचार करे तो उसी में मग्न हो जाता है, अंतर्दृष्टि का अभाव होने से अध्यात्मतत्त्व तो कहीं दूर-दूर रह जाता है। अरे भैया, ऐसी बंधपद्धति में तो अनादि से तू वर्त रहा है... अब तो उसका मोह छोड़! अनादि से उस बंधपद्धति में तेरा किंचित् हित नहीं हुआ, इसलिये उसका मोह तोड़कर अब तो अध्यात्मपद्धति प्रगट कर। ज्ञानी ने तो त्रैकालिक निज निर्मोह ज्ञानानंद के आश्रय द्वारा बंधपद्धति के मोह को तोड़ ही डाला है और अध्यात्मपद्धति अंगीकार की है, किंतु चारित्र में कुछ राग शेष है, उसको अध्यात्म की उग्रता द्वारा छेदन करना चाहता है अर्थात् राग की पद्धति में वह एक क्षण भी मग्न नहीं होता।—देखो, यह साधक की दशा! जहाँ निजशुद्धात्मारूपी समयसार की रुचि हुई, वहाँ परभाव की रुचि नहीं रहती; अरे, समस्त जगत की रुचि छूट जाती है। जिसको अंशमात्र भी राग की रुचि रहे, शुभराग को वास्तव में करनेयोग्य माने, भला-हितकर माने, उसका परिणाम चैतन्य की ओर नहीं आ सकता, वह मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता।

पराश्रय की श्रद्धा में तो सारा संसार है... नित्यानंदमय अराग स्वरूप की रुचि के बल से राग की रुचि छूट गई है, इसलिये धर्मी जीव चैतन्य के प्रेम में ऐसा मग्न है कि बारंबार उसी का स्वरूप विचार में लेता है, उपयोग को बारंबार स्वोन्मुख करता है, कभी कभी निर्विकल्प अनुभव करता है, एकाग्र होकर उसका (शुद्ध स्वपद का) ध्यान करता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत... सिद्धसमान सदा पद मेरो।'—इसप्रकार सिद्धपरमात्मा जैसा ही निजस्वरूप का

आश्रय-अनुभव करता है; उसकी बात सुनते ही वह बड़ा उत्साहित हो जाता है, उसका गुणगान-महिमा करते-करते वह उल्लसित होता है। अहा, अपनी चैतन्यवस्तु अचिन्त्य महिमावंत, उसके समक्ष रागादि परभाव तो अवस्तु है—अवस्तु की रुचि कौन करे ? पराश्रय-परभाव का गुणगान-महिमा कौन करे ?

सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धस्वरूप की भक्ति करता है। शुभराग के साथ भूमिकायोग्य स्वाश्रयरूप आंशिक निश्चयधर्म निरंतर है अर्थात् आंशिक शुद्धपरिणति है ही, वह ज्ञानी का आचार है, उसका नाम एक ही समय में साधकदशा का मिश्र-व्यवहार है। मिश्र अर्थात् कुछ अंश में शुभ-अशुभरूप अशुद्धता है और कुछ अंश में स्वाश्रयरूप शुद्धता; उसमें जो शुभाशुभरूप अशुद्ध अंश है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मी मुनि को भी आस्रव-बंध का कारण है और उसी समय जितना स्वाश्रयरूप शुद्ध अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है।—इसप्रकार आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा, ये चारों भाव धर्मी को एक साथ साधकदश में वर्तते हैं। अज्ञानी को मिश्रभाव नहीं है, उसको तो अकेली अशुद्धता है; सर्वज्ञ को मिश्रभाव नहीं है, उनको तो अकेली शुद्धता है (-चौदहवें गुणस्थान तक औदयिकभावरूप किंचित् अशुद्धता है, उसकी गिनती नहीं है)। मिश्रभाव साधकदशा में है, उसमें शुद्धपरिणति अनुसार वह मोक्षमार्ग को साधता है-ऐसा जानना

अहा, धर्मात्मा की यह अध्यात्मकला अलौकिक है.... ऐसी अध्यात्मकला ही पढ़नेयोग्य है, और उसका प्रचार करनेयोग्य है। सच्चा सुख अध्यात्मकला से ही प्राप्त होता है। अध्यात्मविद्या के सिवा दूसरी लौकिक विद्याओं का मूल्य धर्म में कुछ भी नहीं है। 'सा विद्या या विमुक्तये' आत्मा को पवित्र मोक्ष का कारण न हो, ऐसी विद्या को विद्या कौन कहे ?

जो अध्यात्मविद्या को जानता है, ऐसे ज्ञानी को मिश्रव्यवहारी कहा, अर्थात् शुद्धता और शुभाशुभरूप अशुद्धता दोनों एकसाथ उसको हैं, किंतु कहीं वह शुद्धता और अशुद्धता परस्पर मिल जायें, ऐसा नहीं होता। स्वाश्रय के अनुसार जितनी शुद्धता है, वह किसी भी समय अशुद्धतारूप नहीं हो जाती, और जो पराश्रय के अंशरूप अशुद्धता (रागादि) है, वह कभी शुद्धतारूप हो जाये, ऐसा नहीं है। एकसाथ होने पर भी दोनों की जाति-गति-धारा भिन्न-भिन्न ही है, इस प्रकार 'मिश्र' वह दोनों की पृथक्ता बतलाता है-एकत्व नहीं। उनमें से जितने अंश शुद्धता है, उसके द्वारा धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है।●●

देह से भिन्न अमूर्तिक आत्मा

कर्मसंबंध से रहित आत्मस्वभाव को जो न देखते हैं, न अनुभवते हैं, और मात्र कर्मसंबंधवाला अशुद्ध भावरूप ही आत्मा को समझते हैं, उन्हें शुद्ध आत्मा की खबर नहीं है। सच्चे आत्मा को न पहिचानकर वे अनात्मा को ही आत्मा मान रहे हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को देखे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह बात समयसार की गाथा १४-१५ में अद्भुत रीति से समझायी है। भाई! आत्मा वर्तमान में ही शुद्धनय से कर्मबन्ध-रहित है, और परिणति को अंतर्मुख करने से ऐसे स्वरूप से आत्मा अनुभव में आता है। जब ऐसा अनुभव हुआ, तब आत्मा आत्मरूप से प्रसिद्ध हुआ। रागादिक को तो मूर्त ही गिना है, अमूर्त आत्मस्वभाव से वे भिन्न हैं और मूर्तकर्म के संबंध से हुए हैं। अतः उनको मूर्त कहा और अवधिज्ञान के मूर्त-विषय में गिना। भगवान आत्मा को स्वभावदृष्टि से देखो तो, अभी कर्म के बीच में रहते हुए भी वह अपने अमूर्त स्वभावरूप से ही परिणमन कर रहा है। अमूर्तपना उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में है; और वही आत्मा है; मूर्त या मूर्त के संबंध से हुए विकारी भाव वे असल में आत्मा नहीं है। अभी द्रव्य-गुण अमूर्त और पर्याय मूर्त-ऐसा तो है नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से एकाकार आत्मा अमूर्तरूप से अनुभव में प्रसिद्ध होता है। मूर्त ऐसे देह के सामने (या राग के सामने) देखने से अमूर्त आत्मा की सच्ची पहचान नहीं होती। अभी आत्मा को मूर्त माने और बाद में अमूर्तपना (सिद्धदशा) प्रगटे - ऐसा नहीं बनता। अमूर्त स्वभाव है, उसके स्वीकार से ही साक्षात् अमूर्तपना प्रकट होता है और पर्याय में से कर्म का संबंध छूट जाता है। अभी आत्मा कर्म के संबंधवाला है-देहवाला है-मूर्त है-विकारी है-ऐसा ही अनुभव किया करें तो शुद्ध आत्मा अनुभव में कब आयेगा?

प्रश्न—गोम्मटसार आदि में तो जीव को मूर्त भी कहा है न?

उत्तर—अशुद्धदशा में जीव को मूर्तकर्म के साथ निमित्तसंबंध होने से उपचार से ही उसको मूर्त कहा है, तो भी निश्चय से जिसका स्वभाव सदैव अमूर्त है और उपयोगुण के द्वारा अन्य समस्त द्रव्यों से जिसकी विशेषता है - ऐसे जीव को वर्णादि मूर्तपना जरा भी नहीं है।

समयसार गाथा ६२ में वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि ओ मिथ्या अभिप्रायवाले! यदि तुम ऐसा मानते हो कि ये वर्णादिक सर्व भाव जीव ही है अर्थात् जीव मूर्त ही है, तब तो तुम्हारे मत से जीव और अजीव में कुछ भी भेद नहीं रहता।

और यदि तुम ऐसा कहो कि संसारी जीव के ही वर्णादिक के साथ तादात्म्य है अर्थात् संसारी जीव मूर्त है, तो भी संसार स्थित सब जीव मूर्तिक-रूपी हो जायेंगे। और रूपी तो पुद्गल होता है, जीव नहीं; अतः हे मूढ़मति! तेरी मान्यता में तो पुद्गल ही जीव ठहरा, और मोक्ष भी पुद्गल का ही हुआ! अतः हे भाई! तू न्याय से समझ ले कि अरूपी ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को सिद्धदशा में या संसारदशा में कभी मूर्तपना नहीं है, वह सदा अमूर्तस्वभावी ही है। देहादि मूर्त वस्तु के संयोग में रहनेमात्र से वह मूर्त नहीं हो गया। विश्व में छहों द्रव्य एकक्षेत्र में सदैव साथ में रहते हुए भी कोई भी द्रव्य अपने स्वधर्म को नहीं छोड़ते और अन्य के धर्मरूप नहीं होते – ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। अमूर्तस्वभाव का कार्य भी अमूर्त ही होता है; आत्मा के अमूर्तत्व गुण ने आत्मा को अमूर्त अर्थात् कर्मसंबंध से रहित रखा है। ऐसे स्वभावरूप आत्मा को पहिचानना ही उसकी सच्ची पहिचान है। —ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

'आत्मधर्म' वार्षिक-चन्दा संबंधी निवेदन

'आत्मधर्म' के ग्राहकों से निवेदन है कि—आत्मधर्म का वार्षिक चन्दा अभी तक ३.०० तीन रुपया रहा है; परंतु अब डाक-विभाग की ओर से पोस्टेज की दरें बढ़ने की संभावना होने से नये वार्षिक चन्दे का निर्णय कुछ ही समय में किया जायेगा।

ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि नई दर से ही अपना अगले वर्ष का चन्दा भेजें। आपको मालूम ही है कि हिन्दी आत्मधर्म का नया वर्ष वैशाख महीने से प्रारंभ होता है।

जिन-जिन महानुभावों ने नये वर्ष का चन्दा ३.०० तीन रुपया भिजवा दिया है, वे भी बढ़ी हुई दर की सूचना मिलते ही बाकी रकम तुरंत मनीआर्डर द्वारा भिजवा देंगे-ऐसी आशा है।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

योगसार का अपूर्व मंगल

उपयोग को शुद्धात्मा में युक्त करने का नाम योग;—ऐसे शुद्ध उपयोगरूप ध्यान द्वारा जो सिद्धपद को प्राप्त हुए उनकी प्रतीति करके स्वयं भी उस मार्ग पर जाते हैं;—यह सिद्धपद के मांगलिक का अपूर्व भाव है।

अब से लगभग १४०० वर्ष पूर्व इस भरतक्षेत्र में महान दिगम्बर सन्त योगीन्दुदेव विचरते थे। उन्होंने परमात्मप्रकाश जैसे महान शास्त्र की रचना की है। इस योगसार की रचना भी उन्होंने की है। उसके प्रारंभ में ही मंगलरूप से सिद्धों को नमस्कार करते हैं:—

णिम्मल झाण परिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि॥१॥

निर्मल ध्यानारूढ़ हो, कर्मकलंक खपाय;
हुए सिद्ध परमात्मा, वन्दूं ते जिनराय।

आत्मा के निर्मलध्यान में स्थिर होकर जिन्होंने कर्मकलंक को नष्ट किया और परम आत्मस्वरूप को प्राप्त किया, ऐसे सिद्धपरमात्मा को नमस्कार करते हैं। आत्मा के ध्येयरूप सिद्धपद, सिद्धभगवान जैसा आत्मस्वरूप; उसे प्रतीति में लेकर ध्यान द्वारा उसमें उपयोग को लगाने का नाम योग है, और उसका यह उपदेश है। ऐसे योग द्वारा ही कर्मकलंक का नाश होकर सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

सर्व आत्मा स्वभावसत्ता से शुद्ध सिद्ध भगवान समान हैं; ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप में विकार की सत्ता नहीं है। ऐसे शुद्धस्वरूप को ध्येय में लेकर ध्याना ही कर्मनाश का तथा सिद्ध होने का उपाय है। ऐसे उपाय द्वारा सिद्धपद को साधते-साधते योगीन्दु मुनिराज इस शास्त्र की रचना करते हैं और मंगलाचरण में सिद्धों को नमस्कार करते हैं।

सिद्धि का पंथ क्या?—कि निर्मल आत्मा का ध्यान करना, वह सिद्धि का पंथ है। सम्यग्दर्शन की रीति भी यही है। आत्मा के ध्यान द्वारा ही सम्यग्दर्शन एवं सिद्धिपंथ का प्रारम्भ होता है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंद से परिपूर्ण है, उसके सन्मुख दृष्टि करने से परम आनंद का

वेदन होता है; इसके सिवा जगत के अन्य किसी पदार्थ में सुख का अंश भी नहीं है। भाई, तेरा सुख तेरे अस्तित्व में है; दूसरे के अस्तित्व में तेरा सुख नहीं है; जहाँ अपना सुख भरा हो, वहाँ देखो तो सुख का अनुभव हो। सर्वज्ञ सिद्ध परमात्मा को देहातीत पूर्ण आनंद प्रगट हुआ है, और समस्त आत्मा ऐसे ही पूर्ण आनंद से परिपूर्ण हैं—ऐसा उन भगवान ने देखा है। ऐसे भगवान को नमस्कार करना, सो मंगल है; उसमें अपने शुद्ध आत्मा की प्रतीति साथ ही आ जाती है।

सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा में उपयोग को लगाकर सिद्धपद को प्राप्त हुए; उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ—इसका यह अर्थ हुआ कि मैं भी ऐसे अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग को लगाता हूँ... इस प्रकार अपने शुद्ध आत्मा के ध्यान की रुचि एवं उत्कण्ठा जागृत हुई है। संसार में भयभीत होकर मोक्ष को साधने की भावनावाला जीव अपने उपयोग को शुद्ध आत्मस्वरूप में लगाता है।

देखो, मंगलाचरण में कर्म के नाश का उपाय भी साथ ही बतलाया है कि—शुद्ध आत्मा में उपयोग को लगाना ही कर्म नाश का उपाय है। सिद्ध भगवान इसप्रकार कर्मकलंक को जलाकर सिद्धि को प्राप्त हुए—ऐसी प्रतीति करके स्वयं भी उस मार्ग पर जाते हैं अर्थात् शुद्धात्मा में उपयोग लगाते हैं।—इसका नाम 'योग' है; यह मंगल है और यही मोक्ष का कारण है।

जो सिद्ध हुए, वे आत्मा भी सिद्ध होने से पूर्व बहिरात्मा थे; पश्चात् अपने परम स्वभाव को जानकर राग की एवं ज्ञान की भिन्नता की प्रतीति द्वारा अंतरात्मा हुए और शुद्ध परमस्वभाव का ध्यान कर-करके परमात्मा हुए। ऐसे परमात्मा जैसा ही परमस्वभाव मुझमें हैं-ऐसा लक्ष्य में लेकर मैं उन सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

समयसार के प्रारम्भ में भी 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' ऐसा मंगलाचरण करके सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि—अहो, आत्मा के इष्ट-ध्येयरूप ऐसे सर्व सिद्धों को मैं अपने तथा श्रोताओं के आत्मा में बुलाता हूँ... आदर करता हूँ; श्रद्धा में—ज्ञान में लेता हूँ। अनंत सिद्धों का जो समूह सिद्धनगरी में निवास करता है, उसे मैं अपने ज्ञान में स्थापित करता हूँ। ऊर्ध्वलोक की सिद्धनगरी में विराजमान सिद्धों को प्रतीति के बल से अपने आत्मा में उतारता हूँ; अपने श्रद्धा-ज्ञानरूपी आँगन को साफ-स्वच्छ बनाकर मैं सिद्धों का सत्कार करता हूँ और इसके सिवा अन्य परभावों का आदर छोड़ देता हूँ... अर्थात् अपनी परिणति को राग से भिन्न करके अंतर के सिद्धस्वरूप के साथ अभेद करता हूँ... उस अभेद परिणति में अनंत सिद्धों का समावेश होता है।

वाह! देखो यह सिद्धपद के मंगलाचरण का अपूर्व भाव! सब भूलकर सिद्धों का स्मरण करते हैं... सिद्धपद ही हमारे ज्ञान में झलकता है... वही आदरणीय है और जगत में रागादि अन्य कुछ भी मुझे आदरणीय नहीं है। इसप्रकार रुचि को अपने शुद्धात्मा की ओर उन्मुख करके हे सिद्ध भगवंतों! मैं अपने आत्मा में आपको स्थापित करता हूँ। अपने आत्मा के असंख्यप्रदेशों में मैं श्रद्धा-ज्ञान के भवन बनाता हूँ, उसमें आकर हे सिद्ध प्रभु! आप निवास करो! अपने ज्ञान में मैं राग को स्थान नहीं देता, मैं तो सिद्धसमान शुद्धस्वरूप को ही मैं अपने ज्ञान में रखता हूँ, सिद्धसमान स्वशक्ति का विश्वास करके मैं सिद्धों का आदर करता हूँ। ऐसा भाव प्रगट करना, वह अपूर्व वास्तु-प्रवेश एवं अपूर्व मंगलाचरण है।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो'—ऐसे आत्मस्वरूप को सम्यग्ज्ञानकला द्वारा जानने से वेगपूर्वक शिवमार्ग सधता है, और लज्जाजनक ऐसे जन्म-मरण छूट जाते हैं। तीन लोक का नाथ यह चैतन्य परमेश्वर, वह इस चमड़े के थैले में (शरीर में) बन्द रहे, यह लज्जा है। अशरीरी होने के लिये अशरीरी सिद्धों को नमस्कार करते हैं और जिस शुद्ध आत्मध्यान द्वारा वे सिद्ध हुए, उस शुद्धात्मा का आदर करके उन्हें ध्याते हैं।—इसप्रकार प्रथम गाथा में सिद्धों को वंदनरूप मंगल किया।

दूसरी गाथा में अरिहंतों को वंदनरूप मंगल करते हैं:—

घाइ चउक्कइ किउ विलउ अणंत चउक्क पदिट्ठु।
तहिं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु।

चार घातिया क्षय करी, लह्यां अनंत चतुष्ट;
ते जिनवर चरणे नमी, कहूँ काव्य सुइष्ट॥२॥

अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग लगाकर, उस शुद्धोपयोग के बल से जिन्होंने चार घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञानादि चतुष्ट प्रगट किये, ऐसे अरिहंत परमात्मा के चरणों में वंदना करके यह इष्ट काव्य (योगसार-दोहा) रचता हूँ।

केवलज्ञानादि सहित अरिहंत परमात्मा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं। सीमंधरादि बीस तीर्थंकर तथा अन्य लाखों केवली भगवंत-उन सब अरिहंत भगवंतों को अपने ज्ञान में जिसने स्वीकार किया, उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयेत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने तो अरिहंत परमात्माओं के साक्षात् दर्शन किये थे; समवसरण की यात्रा की थी।

अहो, अरिहंत परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं, राग का अंश भी उनके नहीं रहा... मैं भी ऐसे अरिहंतों की जाति का हूँ; मेरा स्वभाव भी उनके जैसा ही है;—इसप्रकार स्वभाव की प्रतीति करने से साधकपना प्रगट होता है। साधक कहता है कि मैं सिद्धप्रभु की जाति का हूँ... प्रभो! आप की और मेरी जाति एक-सी है; मैं भी आपके जैसे अपने स्वरूप का अनुभव करते-करते कुछ ही काल में आपके निकट आनेवाला हूँ।—देखो, यह अरिहंतों और सिद्धों को वंदन करने की रीति!

भगवान के जैसे ही अपने स्वभाव को स्वीकार करके मैं भगवान को नमस्कार करता हूँ। 'मैं' कैसा?—कि ज्ञान-दर्शनस्वभावी हूँ। भगवान की जाति से अपनी जाति को भिन्न रखकर सच्चा नमस्कार नहीं होता। जैसे भगवान वैसा मैं—ऐसी प्रतीतिपूर्वक स्वसन्मुख परिणति प्रगट हो, वह परमार्थ नमस्कार है। ऐसे नमस्कार द्वारा साधक अपनी पर्याय में अरिहंतपद एवं सिद्धपद का लाभ प्राप्त करता है। इसका नाम 'शुभ-लाभ' है! आत्मा केवलज्ञान और सिद्धपद को प्राप्त करे, उसके जैसा महान लाभ दूसरा क्या होगा?

इसप्रकार सिद्धों को तथा अरिहंतों को नमस्काररूप मंगलाचरण करके अब कहते हैं कि—इस भवभ्रमण से भयभीत होकर जो आत्मा की मुक्ति चाहते हैं—ऐसे जीवों के लिये यह शास्त्र रचा जा रहा है:—

संसारहं भयभीयहं मोक्खहं लालसियाहं।
अप्पा संबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं॥३॥

इच्छें जो निज मुक्तता, भवभय से डरि चित्त;
सो भवि जीव संबोधने, दोहे रचे एकचित्त॥३॥

जिनके चित्त में भवदु:ख का भय हो और मोक्षसुख की अभिलाषा हो—ऐसे आत्मा को संबोधने के लिये एकाग्रचित्त होकर यह दोहे रचे हैं। देखो, मोक्षार्थी जीवों के लिये यह उपदेश है। जिसे राग की और पुण्य की इच्छा हो, जिसे स्वर्ग के वैभव की तृष्णा हो और उसमें

सुख लगता हो, उन जीवों को शुद्धात्मा के ध्यान का यह उपदेश रुचिकर नहीं लगेगा; परंतु जिस जीव को आत्मा के अनाकुल सुख की ही लगन है, राग की-पुण्य की-संयोग की रुचि नहीं है, चारों गति के दु:खों से जो भयभीत है; धूप में पड़ी हुई मछली जिसप्रकार पानी के लिये तड़पती है, उसीप्रकार चार गतियों के दु:ख से त्रसित जो जीव चैतन्य की परमशांति के लिये तड़प रहा है, उसके सिवा दूसरा कुछ जिसे नहीं चाहिए—ऐसे मोक्षाभिलाषी भव्यजीव के लिये यह योगसार के १०८ दोहे रचे जा रहे हैं। अपने आत्मा को संबोधित करने की मुख्यतासहित यह दोहे रचे जा रहे हैं।

अरे, इस संसार में चारों गति में कहीं भी सुख का बिन्दु भी नहीं है, सुख तो अंतरस्वभाव में है; उस स्वभाव के अभिलाषी को संसार की जेल में कहीं चैन नहीं पड़ता, त्रास मालूम होता है। जिसप्रकार किसी आदमी को दो दिन बाद फाँसी दी जानेवाली हो तो वह निरंतर त्रसित-भयभीत बना रहता है और सर्वज्ञ नीरसता ही दिखायी देती है; उसीप्रकार आत्मसुख के अभिलाषी मोक्षार्थी जीव को चारों गति के अवतार वेदनारूप नीरस प्रतीत होते हैं और पुण्य की ओर से भी उसकी रुचि हट जाती है... उसे तो एक आत्मसुख की ही आतुरता बनी रहती है।—ऐसे जीव को आत्मस्वरूप समझाने के लिये यह उपदेश है।●●

चैतन्य-निधान बतलाते हुए स्वामीजी ने प्रमोदपूर्वक कहा कि—अहो, जिस पर दृष्टि पड़ते ही आत्मा जाग उठे और आनंद की धारा उल्लसित हो-ऐसा चैतन्यतत्त्व तू ही है; तो अब तुझे जगत में किसकी वांछा है ? अपने में ही दृष्टि कर.... निज-वैभव पर दृष्टि डालने से तू निहाल हो जायेगा।

पूज्य श्री कानजीस्वामी का मंगल-विहार

राजकोट में अपूर्व धर्मवर्षा

फाल्गुन शुक्ला २ को सोनगढ़ से मंगल-विहार करके पूज्य गुरुदेव लाठी ग्राम होते हुए फाल्गुन शुक्ला ४ के दिन राजकोट पधारे और वहाँ भावभीना भव्य स्वागत हुआ। स्वागत-यात्रा में हजारों स्त्री-पुरुषों एवं बालकों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। स्वागत का जुलूस श्री दिगम्बर जैन मंदिर पर पहुँचा और पूज्य गुरुदेव ने मंदिर में जाकर हर्षोल्लाससहित श्री सीमंधरादि भगवंतों के दर्शन किये... पश्चात् प्रवचन के लिये तैयार किये गये विशाल मंडप में मंगलाचरण सुनाया। जिसमें कहा कि—

मैं धर्मजिनेश्वर का रंगसहित—उल्लासपूर्वक—गुणगान करने के लिये तत्पर हुआ हूँ, उसमें अब भंग न पड़े... धर्म अर्थात् ज्ञान-आनंदादि अनंत स्वभाव; उसे धारण करनेवाला आत्मा सो धर्मजिनेश्वर... उसकी अखंड आराधना करने के लिये जागृत हुआ हूँ, उसमें अब भंग न पड़े; केवलज्ञानादिरूप धर्म जिनके प्रगट हुए, वे धर्मजिनेश्वर हैं अथवा सर्व अरिहंत धर्मजिनेश्वर हैं—उनकी आराधना में अब भंग न पड़े, पर्याय द्रव्य को भजती है—उसका स्तवन करती है; उसमें द्रव्य-पर्याय के बीच कभी भंग न पड़े... अर्थात् द्रव्य-पर्याय की एकता से केवलज्ञान होगा... वह महान मंगल है।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन प्रातः काल ८.०० से ९.००, मध्याह्न में ३.०० से ४.०० तक नियमित होते थे। प्रवचन मंडप श्रोताओं से खचाखच भर जाता था। प्रतिदिन रात्रि को ८.०० से ९.०० बजे तक तत्त्वचर्चा एवं शंका-समाधान का कार्यक्रम रहता था। जिसमें पूज्य स्वामीजी अपनी लाक्षणिक शैली में प्रश्नों के उत्तर देते थे। दिल्ली आदि दूर-दूर के नगरों से मुमुक्षु लोग हजारों की संख्या में पूज्य स्वामीजी की अमृत-वाणी का लाभ लेने के लिये आये थे। जिनके निवास एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था राजकोट दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से की गई थी।

पूज्य स्वामीजी दो-तीन दिन 'फ्लु' के कारण अस्वस्थ रहे, उन दिनों भी स्वामीजी के परम शिष्य एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के भूतपूर्व अध्यक्ष पूज्य श्री रामजीभाई के प्रवचन तीनों समय होते थे और हजारों की संख्या में लोग उपस्थित रहते थे।

इसप्रकार राजकोट में १३ दिन तक अपूर्व धर्मवर्षा करके पूज्य स्वामीजी ने तारीख १६ मार्च के प्रात:काल वडाल ग्राम के लिये मंगल प्रस्थान किया और वहाँ से गिरनार सिद्धक्षेत्र की तलहटी में भगवान श्री नेमिनाथ के दर्शन करते हुए तारीख १७ मार्च को प्रात:काल पोरबंदर पधारे और वहाँ की जनता ने हर्षोल्लासपूर्वक गुरुदेव का स्वागत किया।

धर्मप्रभावना के अनुरूप तीर्थयात्रा

फतेपुर (अहमदाबाद) से धर्मभूषण श्री बाबूभाई के नेतृत्व में गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि के करीब ६० गाँव से ६५० यात्रियों का संघ मोटर बस द्वारा दक्षिण बाहुबली आदि तीर्थक्षेत्रों की वंदनार्थ तारीख ११-२-६८ को निकला। पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की वंदना में ७०००), बड़वानीजी सिद्धक्षेत्र में ७०००), तथा पावागिर-ऊन में ६०००), संघ द्वारा दान में दिये गये। ऊन में सनावद तथा खंडवा के मुमुक्षुमंडल ने खास व्यवस्था की थी और सबको प्रीतिभोज दिया था। बड़वानी में श्री बाबूभाई को सन्मानपत्र देकर धर्मवात्सल्य प्रगट किया। बाबूभाई द्वारा धार्मिक प्रवचन, जिनभक्ति तथा श्री नेमीचंदभाई द्वारा जैन शिक्षणवर्ग में सभी जिज्ञासु बड़े प्रेम से लाभ ले रहे हैं। पावागढ़ में श्री चंदुलाल कस्तुरचंदजी तीर्थक्षेत्र कमेटी के मंत्री द्वारा तीर्थरक्षा हेतु अपील करने पर बड़ी रकम दान में श्री बाबूभाई के उपदेश से दी गई।

मुक्तागिरि—नागपुर में तारीख १९-२१ दो दिन श्री बाबूभाई का प्रवचन था। जैन-अजैन सभी समाज ने बड़ी उमंग से लाभ लिया, संघ के भोजनादि की व्यवस्था नागपुर दिगम्बर जैन समाज की ओर से की गई थी। मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में भी नागपुर दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा सभी यात्रियों के लिये भोजनादि की व्यवस्था की गई थी। तारीख १९ को नागपुर दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख अग्रगण्य व्यक्तियों द्वारा श्री बाबूभाई का एवं यात्रा संघ का स्वागत किया गया था। जिनमंदिर विशाल होने पर भी श्री बाबूभाई के प्रवचन के समय मंडप ठसाठस भर जाने से बड़ी संख्या में बाहर से भी बड़ी शांति के साथ प्रवचन सुनते रहे। दोपहर को जुलूस के रूप में श्री जिनमंदिरों की वंदना, रात्रि को भक्ति-भजन के सुंदर कार्यक्रम के पश्चात् श्री परवार मंदिरजी के बाहर मैदान में प्रवचन, एवं दिगम्बर जैन समाज, स्वागत समिति, मुमुक्षु मंडल आदि अनेक संस्थाओं द्वारा भावभीने स्वागत समारोह का कार्यक्रम हुआ था। ऐसी अभूतपूर्व शास्त्रसभा का नागपुर में प्रथम अवसर था। इतने विशाल ६७५ यात्रियों का

आदर्श अनुशासन, स्वच्छता, संयमीपन देखकर स्थानीय समाज आश्चर्य करने लगी कि धन्य है ! तारीख २० को संघ रामटेक पहुँचा। वहाँ क्षेत्र-कमेटी तथा नागपुर से इतवारी मुमुक्षु मंडल द्वारा प्रीतिभोज था; सभी कार्यक्रम एवं व्यवस्था में नागपुर मंडल, अभयकुमारजी कारंजा, शिखरचंदजी बड़कुर, श्री ओमप्रसादजी, सिं. लक्ष्मीचंदजी ने अथक् सेवा दी। श्री सुंदरलालजी, श्री मीठूलालजी मोदी ने अपने परिश्रम से कार्यक्रम को सफल बनाया, रामटेकजी क्षेत्र को दान दिया गया तथा वापिस नागपुर आकर स्थानीय मंदिरों को व बस्तिग्रह को ४०४) भेंटस्वरूप श्री बाबूभाई ने दिये। श्री बाबूभाई ने नागपुर मंडल की विशेषता, व्यवस्था देखकर स्नेहपूर्वक सराहना की, मंडल के संस्थापक श्री लालजी पांडे (भोपाल) को मूक सेवक कहकर सत्कार किया, सभी को अपार आनंद हुआ।

—शिखरचंद बड़कुर संयोजक मुमुक्षु मंडल नागपुर

कारंजा—संघसहित श्री बाबूभाई का स्वागत समस्त समाज द्वारा हुआ, प्रवचन में २५०० संख्या थी। सभा में मुनि श्री सन्मतिसागरजी तथा अन्य मुनि-क्षुल्लकजी भी उपस्थित थे। मुनि महाराज ने कहा कि—बिलकुल आगम-अनुकूल प्रवचन है; सम्यग्दर्शन रहित चारित्र पूज्य नहीं है। श्री बाबूभाई का प्रवचन सुनने का मौका मिला जिससे बहुत प्रसन्नता प्रगट की। पश्चात् कारंजा समाज की अनेक संस्थाओं द्वारा सन्मान-पत्रादि तथा पंडित श्री फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री का प्रवचन हुआ; जिसमें उन्होंने पूज्य कानजीस्वामी की परमधर्मदर्शक प्रवृत्ति का वर्णन किया। कारंजा समाज का धर्मवात्सल्य चिरस्मरणीय है।

सिरपुर—(अन्तरिक्ष-पार्श्वनाथ) धर्मप्रभावना की वृद्धिरूप समाचार में लिखते हैं कि यहाँ ४०० से अधिक संख्या में लोग बाहर गाँव से आये थे। प्रवचन में, रथयात्रा में अनोखा उत्साह था; यात्रीसंघ को दो दिन तक भोजनादि की समुचि व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचारी धन्यकुमारजी की व्यवस्थाशक्ति प्रशंसनीय है। दक्षिण में आपके द्वारा उत्तम कार्य हो रहा है। शेठ श्री कस्तुरभाई भी बाबूभाई के प्रवचन में आये थे। यह तीर्थक्षेत्र तो दिगम्बर जैन समाज का प्रथम से ही है, यह बात सर्व विदित है; किंतु सेठजी ने दोनों समाज को शांति के लिये अपील की थी। कोर्ट में जाने से दोनों समाज के पैसे की बरबादी होती है। श्री चन्दुलालजी जो दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र संरक्षण समिति के मंत्री हैं-कहा कि पैसे का मूल्य नहीं है, हमारे तो कषाय-क्लेशों से मुक्ति चाहिये। सिरपुर में सभी दिगम्बर जैन हैं; श्वेताम्बर जैन का एक भी घर नहीं

है। श्वेताम्बरों ने तो इस क्षेत्र का अतिशय देखकर पैसे के बल पर अपना स्थान मनाने की चेष्टा की है, जो अन्याय ही है।

सिरपुर शहर के सरपंच ने तथा सारे गाँव ने श्री बाबूभाई से जोरदार प्रार्थना की है कि आप हर साल सिरपुर पधारें; श्री बाबूभाई ने वचन दिया है कि खास कोई बाधा न होगी तो कार्तिक मेला में अवश्य आऊँगा। श्री बाबूभाई ने यहाँ के वयोवृद्ध कार्यकर श्री श्रावणेजी को सन्मान-पत्र दिया; ब्रह्मचारी धन्यकुमारजी की महान सेवा की सराहना की। पंडित फूलचंदजी शास्त्री (वाराणसी) ने सभा में कहा कि देखो श्री कानजीस्वामी के शिष्य सुनकर वमन करनेवाले नहीं हैं, किंतु पात्रता सहित पचाकर आत्महित में सावधान हैं-जीवन में सच्चाई सेवा और सादगी है; वीतरागता से देव की विशेषता है उसका वर्णन किया। कषाय (क्रोधादि) में आगम नहीं बनता, वीतरागता में ही जिन-आगम बन सकता है; परिग्रह दशा में मोक्ष नहीं है, सोनगढ़ तथा गुजरात के यात्रा संघ द्वारा करीब ३३ हजार रुपये की धनराशि क्षेत्र को दान में दी गई।

मलकापुर—(तारीख २७-२-६८) सोनगढ़ के आध्यात्मिक संत पूज्य कानजीस्वामी के परम शिष्य ब्रह्मचारी श्री बाबूभाई के नेतृत्व में यात्रा संघ का उमंगसहित भव्य स्वागत किया गया। भारत के अनेक स्थलों से अग्रणी धार्मिक यात्रार्थी एकत्रित हो गये थे। स्थानीय समाज ने उन सबके शानदार स्वागत की बहुत दिनों से तैयारी कर रखी थी। संघपति पंडित श्री बाबूभाई के दोनों समय के प्रवचनों में जैन-अजैन बंधु बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे, शंका-समाधान, जैन शिक्षणवर्ग का भी सभी ने लाभ लिया; श्रीजी की विशाल रथयात्रा निकाली थी, रात्रि सभा के पश्चात् सम्मान-पत्र तथा अनेक व्यक्तियों का परिचय एवं आभार विधि हुई थी।

श्री चुनीलाल रामुसा जैन
अध्यक्ष-मलकापुर

नागपुर—(तारीख ३-६-६८) दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के खास निमंत्रण पर जिनागम मर्मज्ञ, स्पष्ट, ओजस्वी, निर्भीक वक्ता श्री गेंदालालजी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य (बूँदी-राज.) से तारीख १४-२-६८ को नागपुर पधारे थे। आपका अध्यात्म विषयों पर खास रोचकता पूर्ण प्रभावशाली प्रवचन श्री परवार मंदिरजी में १० दिन तक तीनों समय होता था, पंडितजी द्वारा महती धर्मप्रभावना हुई, अंतिम दिन तारीख २८-२-६८ को श्री दिगम्बर जैन

समाज की ओर से पंडितजी का स्वागत-समारोह हुआ। जिसमें अनेक वक्ताओं ने आपकी हृदय से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए पुनः आगमन का अनुरोध किया। पंडितजी ने विनम्र शब्दों में लघुता प्रगट की। हम ऐसे विद्वानों की नित्य सराहना कर खास उपकार मानते हैं। पंडितजी की इतनी महान शैली होने पर सोनगढ़ का-स्वामी का परम उपकार मानते थे।

शिखरचंद बड़कुर
मंत्री श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
इतवारी-नागपुर

'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा' संबंधी

सरदारशहर निवासी सद्धर्म प्रेमी श्री दीपचंदजी सेठिया की ओर से भेंटस्वरूप 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा' का सैट (भाग १-२) जिन-जिन संस्थाओं एवं मंदिरों को देने का निर्णय कमेटी द्वारा किया गया है, उन्हें भेजना प्रारंभ हो चुका है। कृपया, अब कोई महानुभाव पुस्तक की मांग न करें और न पोस्टेज के लिये मनीआर्डर भेजें।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

बड़ा मोक्षमार्गी और छोटा मोक्षमार्गी

मोक्षमार्ग का बड़ा भाग तो मुनिवरों के पास है और गृहस्थ-धर्मात्मा के पास उसका छोटा भाग है। भले ही भाग छोटा सही, परंतु उसकी जाति तो मुनिराज के मोक्षमार्ग जैसी ही है। धर्मात्मा श्रावक के भी मोक्षमार्ग का अंश होता है।

कोई कहे कि—मोक्षमार्ग तो मुनि के ही होता है और गृहस्थ-श्रावक के किंचित् मोक्षमार्ग नहीं होता;—तो उसे वास्तव में मोक्षमार्ग के स्वरूप की खबर नहीं है और श्रावक-धर्मात्मा की दशा को भी वह नहीं जानता है। अव्रती गृहस्थ को भी मोक्षमार्ग का अंश वर्तता है... वह भी क्वचित् उपयोग को अंतर में एकाग्र करके निर्विकल्प स्वानुभव के महा आनंद का वेदन कर लेता है। मुनि को तो चैतन्यस्वरूप में अत्यधिक लीनता है। मुनि बड़े मोक्षमार्गी हैं और गृहस्थ सम्यग्दृष्टि छोटा मोक्षमार्गी है; परंतु मोक्षमार्ग तो दोनों को है; दोनों मोक्ष के साधक हैं।

नये प्रकाशन

छहढाला (सचित्र)

सर्वज्ञ-वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप यह ग्रंथ पाठय-पुस्तकरूप में भी जैन समाज में अति-प्रचलित है। इसमें पंडित श्री दौलतरामजी ने जैन-तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भाँति भर दिया है। रंगी चित्रों के कारण पढ़ने में विशेष रुचि और समझने में सरलता रहती है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य-१-५० होने पर भी मात्र १) में कमीशन नहीं है।

अपूर्व अवसर-प्रवचन

[श्रीमद् राजचंद्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' काव्य पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन]

यह काव्य अत्यंत रोचक, आत्मिक उत्साहमय, अध्यात्मरस से भरपूर बारंबार पढ़ने योग्य हैं; खूब माँग होने से यह इसकी तीसरी आवृत्ति है। इस बार इसमें पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरणस्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना का समावेश किया है।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास

अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म-पंचसंग्रह, भावदीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है; अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़नेयोग्य है।

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन पोस्टेज अलग।

प्राप्तिस्थान : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)